द्वैमासिक
जुलाई-दिसम्बर 2018
(संयुक्तांक) •25 रुपये

मुक्तिकामी छात्रों-युवाओं का

# आह्वान

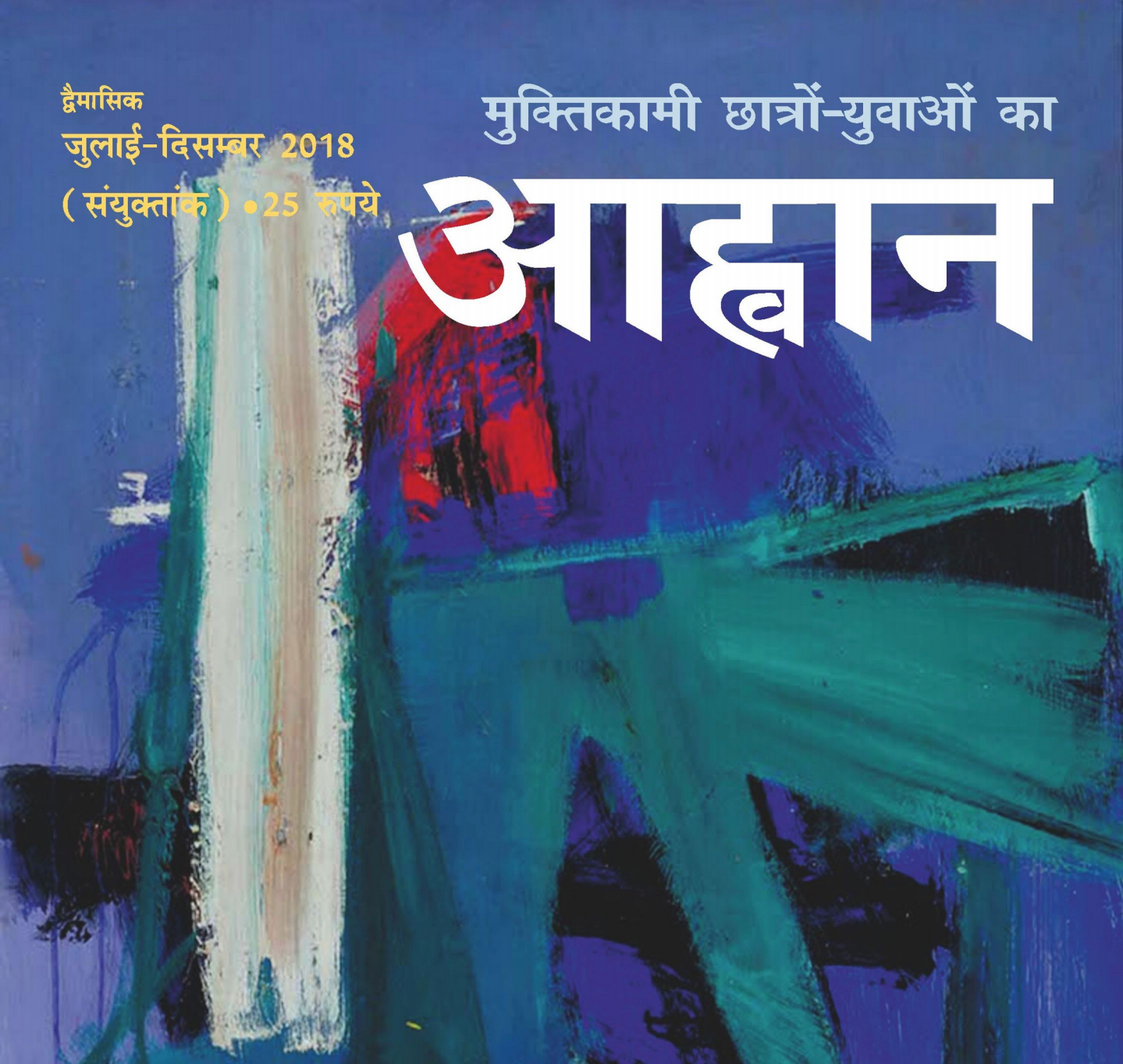

- सीबीआई में घमासान और संघ का लोकसभा चुनाव हेतु 'राम मन्दिर' शंखनाद
- सबरीमाला के निहितार्थ
- 'मी टू' मुहिम : एक समालोचना
- जमाल खशोज़ी की मौत पर साम्राज्यवादियों के आँसू परन्तु यमन के नरसंहार पर चुप्पी!
- ब्राज़ील में फासिस्ट बोलसोनारो की जीत, विश्व स्तर पर नया फासिस्ट उभार और आने वाले समय की चुनौतियाँ
- कैथी कोलविट्ज : उत्कृष्ट सर्वहारा कलाकार

# हम लोग लौटेंगे

प्यारे फ़लीस्तीन
मैं कैसे सो सकता हूँ
मेरी आँखों में यातना की परछाई है
तेरे नाम से मैं अपनी दुनिया सँवारता हूँ
और मैं अपनी भावनाओं को
छुपाकर ही रखता
दिनों के काफ़िले गुज़रते हैं और बातें
करते हैं
दुश्मनों और दोस्तों की साजिशों की
प्यारे फ़लीस्तीन
मैं कैसे जी सकता हूँ
तेरे टीलों और मैदानों से दूर
ख़ून से रँगे
पहाड़ों की तलहटी
मुझे बुला रही है
और क्षितिज पर वह रंग फैल रहा है
हमारे समुद्र तट रो रहे हैं
और मुझे बुला रहे हैं
और हमारा रोना समय के कानों में गूँजता
है
भागते हुए झरने मुझे बुला रहे हैं
वे अपने ही देश में परदेसी हो गये हैं
तेरे यतीम शहर मुझे बुला रहे हैं
और तेरे गाँव और गुम्बद
मेरे दोस्त पूछते हैं –
'क्या हम फिर मिलेंगे?'
'हम लोग लौटेंगे?'
हाँ, हम लोग उस सजल आत्मा को
चूमेंगे
और हमारी जीवन्त इच्छाएँ
हमारे होंठों पर हैं
कल हम लौटेंगे
और पीढ़ियाँ सुनेंगी हमारे क़दमों की
आवाज़
हम लौटेंगे आँधियों के साथ
बिजलियों और उल्काओं के साथ
हम लौटेंगे
अपनी आशा और गीतों के साथ
उठते हुए बाज के साथ
पौ फटने के साथ
जो रेगिस्तानों पर मुस्कराती है
समुद्र की लहरों पर नाचती सुबह के
साथ
ख़ून से सने झण्डों के साथ
और चमकती तलवारों के साथ
और लपकते बरछों के साथ
हम लौटेंगे

– अबू सलमा

## आह्वान के बारे में कुछ महत्त्वपूर्ण विचारबिन्दु

➢ **'आह्वान' विपर्यय के इस कठिन अँधेरे दौर में क्रान्ति के नये संस्करण की तैयारी के लिये युवा वर्ग का आह्वान करता है। यह एक नूतन क्रान्तिकारी नवजागरण और प्रबोधन का शंखनाद करता है। यह नयी क्रान्ति की नेतृत्वकारी शक्ति के निर्माण के लिये, उसकी मार्गदर्शक वैज्ञानिक जीवनदृष्टि और इतिहासबोध की समझ कायम करने के लिये और भारतीय क्रान्ति के रास्ते की सही समझदारी कायम करने के उद्देश्य से विचार-विनिमय और बहस-मुबाहसे के लिये आम जनता के विवेकशील बहादुर युवा सपूतों को आमंत्रित करता है। 'आह्वान' क्रान्ति की आत्मा को जागृत करने की ज़रूरत का अहसास है। यह एक नयी क्रान्तिकारी स्पिरिट पैदा करने की तड़प की अभिव्यक्ति है। लोग यदि लोहे की दीवारों में कैद; नशे की गहरी नींद सो रहे हैं, तब भी हमें लगातार आवाज़ लगानी ही होगी। नींद में घुट रहे लोगों के कानों तक लगातार पहुँचती हमारी आवाज़ कभी न कभी उन्हें जगायेगी ही। भूलना नहीं होगा कि एक चिंगारी सारे जंगल को आग लगा सकती है। 'आह्वान' ऐसी ही एक चिंगारी बनने को संकल्पबद्ध है।**

➢ **'आह्वान' ज़िन्दगी के इस दमघोंटू माहौल को बदलने के लिये तमाम ज़िन्दा लोगों का आह्वान करता है। यह उन सभी का आह्वान करता है जो सही मायने में नौजवान हैं। जिनमें व्यक्तिगत स्वार्थ, कायरता, दुनियादारी, धन लिप्सा, कैरियरवाद और पद-ओहदे-हैसियत-मान्यता की गलाकाटू प्रतिस्पर्धा के ख़िलाफ़ लड़ने का माद्दा और ज़िद है, जिनकी रगों में उष्ण रक्त प्रवाहित हो रहा है। जो न्याय, सौन्दर्य, प्रगति और शौर्य के पुजारी हैं। 'आह्वान' जनता की सेवा में लग जाने के लिए, मेहनतकश अवाम में घुलमिलकर उसकी मुक्ति का परचम थाम लेने के लिये ऐसे ही नौजवानों का आह्वान करता है। सामाजिक क्रान्तियों की कठिन शुरुआत की चुनौतियों को स्वीकारने के लिए पहले जनता के बहादुर युवा सपूत ही आगे आते हैं। इतिहास के रथ के पहिये नौजवानों के उष्ण रक्त से लथपथ हुआ करते हैं।**

# इस अंक में


| | |
|---|---|
| **पाठक मंच** | 2 |
| **अपनी ओर से** | |
| सीबीआई का घमासान और संघ का लोकसभा चुनाव हेतु 'राम मन्दिर' शंखनाद | 3 |
| **समाज** | |
| सबरीमाला के निहितार्थ | 9 |
| **समीक्षा** | |
| 'मी टू' मुहिम : एक समालोचना | 7 |
| 18 दिन चले हरियाणा रोडवेज़ आन्दोलन | 32 |
| **ढोल की पोल** | |
| अच्छे दिनों की मृगतृष्णा | 23 |
| बाज़ार के हाथों में उच्च शिक्षा को बेचने का षड्यंत्र | 21 |
| **विमर्श** | |
| कलाकार का सामाजिक दायित्व क्या है? | 25 |
| ब्राजील में फासिस्ट बोलसोनारो की जीत.... | 47 |
| **विश्व पटल पर** | |
| जमाल खशोज़ी की मौत पर साम्राज्यवादियों के आँसू परन्तु यमन के नरसंहार पर चुप्पी! | 16 |
| **स्मृति शेष** | |
| विष्णु खरे : अपनी राह खुद बनाने वाला विद्रोही प्रयोगधर्मी कवि | 12 |
| **सामयिकी** | |
| तमाशा-ए-सीबीआई | 19 |
| **गतिविधियाँ** | 47 |



**मुक्तिकामी छात्रों-युवाओं का आह्वान**

**वर्षः 11 अंकः4-5-6**

**जुलाई-दिसम्बर, 2018 (संयुक्तांक)**

सम्पादक
**अभिनव**
सह-सम्पादक
**कविता**
सज्जा
**रामबाबू**

एक प्रति का मूल्य: **25 रूपये**

वार्षिक सदस्यता: **160 रूपये**
द्विवार्षिक सदस्यता: **320 रूपये**
पंचवर्षीय सदस्यता: **750 रूपये**
आजीवन सदस्यता: **2,000 रूपये**

**सम्पादकीय कार्यालय: बी-100, मुकुन्द विहार, करावल नगर, दिल्ली, फ़ोन: 09999750940**

**ईमेलः ahwan.editor@gmail.com वेबसाइटः ahwanmag.com फ़ेसबुकः facebook.com/muktikamiahwan**

स्वामी, प्रकाशक, मुद्रक एवं सम्पादक **अभिनव सिन्हा** द्वारा रुचिका प्रिण्टर्स, I/10665, सुभाष पार्क, नवीन शाहदरा, दिल्ली-110032 से मुद्रित कराकर, बी-100, मुकुन्द विहार, करावल नगर, दिल्ली-110094 से प्रकाशित किया।

**पाठक मंच**

## फासीवाद की चुनौती में वैकल्पिक मीडिया की अहम भूमिका होगी

मौजूदा दौर में जिस किस्म से मजदूरों, छात्रों, किसानों और नौकरीपेशा लोगों पर ये सरकार चौतरफा हमला कर रही है इस काम में मुख्य धारा की मीडिया और सोशल मीडिया के जरिये ये फासीवादी जनता को भरमा रहे हैं। यह होना भी है क्योंकि भाजपा को सबसे ज़्यादा चन्दा देने वाले बड़े पूँजीपति भी मीडिया को चलाते हैं और ये पूरी तरह इनके हाथ में दस्तानों की तरह काम कर रहे हैं। ऐसे में जनता को उनके सही मुद्दों पर एकजुट और संगठित करने के लिए हमें जनता के सहयोग से चलने वाली मीडिया की बेहद ज़रूरत है और इस मकसद में आह्वान एक बेहद सकारात्मक भूमिका निभा रही है। इस क्रम में आपको और निरन्तरता से फासीवाद विरोधी साहित्य भी छापना चाहिए। जर्मनी और इटली में फासीवाद विरोधी आन्दोलन के सबक को भी पाठकों तक पहुँचाना होगा। साथ ही, फासीवाद के खिलाफ हमें देश की सभी इंसाफ़पसन्द ताकतों को एकजुट करने का आह्वान भी करना होगा।

-रामवीर सिंह, रोहतक, हरियाणा

## उठो, जागो और इस दुनिया को बदल दो!

*इस वक्त में पाते हैं हम रातों को दरवाजों पर दस्तक,*
*फिर कहीं होती है दिल में धक-धक,*
*न जाने किस घर में खाकी वर्दी आई है,*
*खाकी वर्दी के लोगों के चेहरों पर झाँई हैं,*
*चारों ओर सायरनों का शोर है,*
*रात के सन्नाटे में मचाता आतंक घनघोर है,*
*कल गायब होंगे कुछ लोग यहाँ से,*
*परिवार चेहरे ढूँढेंगे जहाँ भर में,*
*ऐसे में खड़ा होना होगा हम सबको,*
*जनता के हाथों को मिल जाना होगा बदलने इस जग को!*

साथियों आज हमें फिर से भगतसिंह के विचारों को आम जनता तक पहुँचाना ही होगा क्योंकि अगर अब देर कि तो इतिहास में बर्बरता के लिए हम जिम्मेदार होंगे। मैं आह्वान का नियमित पाठक हूँ और इस पत्रिका को अधिक से अधिक लोगों तक पहुँचने कि कोशिश करता हूँ। परन्तु पत्रिका को निरन्तर बनाइये।

क्रान्तिकारी सलाम,
-प्रियान्शु 'विप्लवी', पटना, बिहार

## 'आह्वान' के पाठकों से एक अपील

**दोस्तो,**

'आह्वान' सारे देश में चल रहे वैकल्पिक मीडिया के प्रयासों की एक कड़ी है। हम सत्ता प्रतिष्ठानों, फ़ण्डिंग एजेंसियों, पूँजीवादी घरानों एवं चुनावी राजनीतिक दलों से किसी भी रूप में आर्थिक सहयोग लेना घोर अनर्थकारी मानते हैं। हमारी दृढ़ मान्यता है कि जनता का वैकल्पिक मीडिया सिर्फ़ जन संसाधनों के बूते खड़ा किया जाना चाहिए।

एक लम्बे समय से बिना किसी क़िस्म का समझौता किये 'आह्वान' सतत प्रचारित-प्रकाशित हो रही है। आपको मालूम हो कि विगत कई अंकों से पत्रिका आर्थिक संकट का सामना कर रही है। ऐसे में 'आह्वान' अपने तमाम पाठकों, सहयोगियों से सहयोग की अपेक्षा करती है। हम आप सभी सहयोगियों, शुभचिन्तकों से अपील करते हैं कि वे अपनी ओर से अधिकतम सम्भव आर्थिक सहयोग भेजकर परिवर्तन के इस हथियार को मज़बूती प्रदान करें। आप- 1- आजीवन सदस्यता ग्रहण कर सहयोग कर सकते हैं। 2- अपने मित्रों को 'आह्वान' की सदस्यता दिलवायें। 3- 'आह्वान' के मद में आर्थिक सहयोग भेजें। और 'आह्वान' के वितरण में लगे सहयोगियों से अपील है कि वे पत्रिका की भुगतान राशि यथासम्भव शीघ्र प्रेषित कराने की व्यवस्था करें।

आप अपना सहयोग/सदस्यता राशि निम्नलिखित खाता नं. में भी प्रेषित कर सकते हैं। यह ज़रूरी है कि आर्थिक सहयोग भेजते समय हमें सूचित अवश्य कर दें।

**प्रति - मुक्तिकामी छात्रों-युवाओं का आह्वान, बैंक ऑफ़ बड़ौदा, खाता नं- 21360100010629**

**साभिवादन,**
**सम्पादक**

# सीबीआई का घमासान और संघ का लोकसभा चुनाव हेतु 'राम मन्दिर' शंखनाद

पाँच राज्य में विधानसभा के नतीजे सामने आ चुके हैं और कांग्रेस ने पाँच राज्य में से तीन पर हाँफते-हाँफते सरकार बना ली है। यह चुनावी नतीजे मोदी की उतरती लहर को पुख्ता करते हैं और जनता के अंदर सरकार के खिलाफ़ गुस्से की ही अभिव्यक्ति है। चुनावी नतीजों के विश्लेषण में जाने पर यह साफ हो जाता है कि शहरी से लेकर ग्रामीण आबादी में भाजपा के वोट प्रतिशत में नुकसान हुआ है। वसुंधरा राजे और 'मामा' शिवराज सिंह की निकम्मी सरकारों के खिलाफ जनता में गुस्सा था परंतु ईवीएम के जादू और संघ के भीषण राम मंदिर प्रचार ने भाजपा को इन दोनों राज्य में टक्कर पर पहुंचा दिया। यह चुनाव जिस पृष्ठभूमि पर लड़ा गया और आगामी लोकसभा चुनाव तक संघ जिस ओर कदम बढ़ा रहा है हम यहाँ विस्तार से बात करेंगे। इन चुनावों के पहले ही देश में मोदी सरकार के घोटालों की गटर गंगा खुल कर सामने आ रही थी जिसकी प्रतिक्रिया में फासीवाद समाज में अपने पंजों को भीतर धँसा रहा है। एकतरफ सीबीआई के घमासान और आरबीआई के साथ सरकार की खींचातान के कारण राज्य मशीनरी के अन्दर के कल-पुर्जे जनता को खुलकर नज़र आ रहे हैं तो वहीं दूसरी तरफ़ बुलन्दशहर में संघियों की गौ हत्या की अफवाह फैलाकर दंगा करने की साजिश को असफल करने वाले और अखलाक हत्याकांड की जांच कर रहे पुलिस इंस्पेक्टर सुबोध सिंह को बजरंग दल के गुंडों ने मार दिया और बिहार में एक वृद्ध को दंगाइयों ने जलाकर मार दिया। ये दो अलग किस्म की घटनाएँ फासीवाद को व्याख्यायित करती हैं। आर्थिक संकट के कारण चरमरा रही अर्थव्यवस्था में भी वित्तीय पूँजीपति फल-फूल रहे हैं और दुनिया के सबसे बड़े अमीर की फेहरिस्त में अपना नाम लिखवा रहे हैं। एक तरफ देश में भयंकर असमानता के मामले में भारत ऑक्सफेम की रिपोर्ट में भी अव्वल है तो वहीं फोर्ब्स की सूची में भी अमीरों ने अपना सिक्का जमाया है। देश के शिखर और रसातल की तस्वीर के दो पहलू यह हैं कि एक तरफ हर मिनट 30 करोड़ रूपये कमाने वाला मुकेश अम्बानी है तो दूसरी तरफ लेबर चौक पर 12 घंटे की दिहाड़ी में 250 रूपये कमाने वाला मजदूर है। इस कारण ही भीड़-हत्या को बढ़ावा दिया जा रहा है ताकि फासीवाद के इस आर्थिक मर्म पर ध्यान न जाये। संघ का साम्प्रदायिक ज़हर असर दिखा रहा है जिस कारण लोग या तो भीड़ में शामिल होकर मासूम बच्चों का क़त्ल कर रहे हैं या फिर ऐसी घटनाओं पर मूक बने खड़े रहते हैं। इन घटनाओं की संख्या दिन-ब-दिन बढ़ती जाएगी क्योंकि विधानसभा चुनाव में हार, राफेल सौदे में भ्रष्टाचार के उजागर होने के बाद से मोदी सरकार के प्रवक्ता जवाब देने में बगलें ही झाँकते रहे हैं और ज़्यादा इन्तज़ार किए बिना ही संघ ने इन चुनावों के पहले मन्दिर की राजनीति का बटन दबा दिया था और सारे संघी एक ही धुन में अब राम मन्दिर बनाओ का नारा

उठाने लगे हैं। फासीवाद के उभार का मतलब वित्तीय पूँजी की खुली लूट और उसे बाधारहित बनाने के लिए एक निम्न मध्य वर्गीय आन्दोलन खड़ा किया जाना है जो बहुसंख्यक धर्म या नस्ल को किसी अल्पसंख्यक धर्म या नस्ल के खतरे से बचाने का आह्वान करता है। हिटलर के जर्मनी, मुसोलिनी के इटली या मोदी के भारत में यही समानता है और इससे लड़ने के लिए हमें भी इसे समझना ही होगा। सुप्रीम कोर्ट द्वारा राम मन्दिर केस की तारीख जल्द न मिलने पर इसके खिलाफ विश्व हिन्दू परिषद से लेकर सभी संघ के आनुषंगिक संगठन 1992 के बाबरी मस्जिद ध्वंस के दौरान आयोजित साम्प्रदायिक आन्दोलन को पुनः दोहराने की मंशा साफ कर चुके हैं। समय आने पर मोदी सरकार राम मन्दिर बनाने हेतु संसद से ऑर्डिनेंस पारित करने की सोच रही है और इसे सुप्रीम कोर्ट से चुनौती मिलने कि सूरत में मन्दिर आन्दोलन खड़ा करने की सम्भावना होगी।

इसी क्रम में 151 मीटर की राम मूर्ति बनवाने और अर्ध कुम्भ में 4200 करोड़ रु/- खर्च करने की घोषणा की गयी है जिससे हिन्दुत्व की आँच पर समाज को लगातार तपाया जाए और इस पर ही पूरा ज़ोर लगाते हुए भाजपा ने विकास और 'गुड गवर्नेंस' के जुमले भी फेंकने छोड़ दिये हैं। हर त्योहार में संघ सक्रियता से अपनी साम्प्रदायिक राजनीति को गली मोहल्ले तक पहुँचा रहा है। संघ की इस राजनीति के समर्थन में एक भीड़ खड़ी हो रही है और इस भीड़ में बेरोज़गार नौजवानों से लेकर कम उम्र के लड़के भी शामिल हैं जैसा दिल्ली के मालवीय नगर में 8 साल के अज़ीम की सम्भवतः भीड़ द्वारा हत्या में हुआ। इस भीड़-हिंसा का शिकार सिर्फ मुस्लिम आबादी और दलित आबादी ही नहीं बन रही है बल्कि जैसा कि तमाम घटनाओं से जाहिर है कि यह फासीवादी राक्षस एक अन्धी शक्ति की तरह हर किसी पर टूट रहा है। उत्तर प्रदेश में योगी सरकार ने जो आतंक राज कायम किया है उसकी चपेट में लखनऊ के हिन्दू ब्राह्मण परिवार का सदस्य विवेक तिवारी भी आया जिसे योगी के संघी वर्दीधारी गुंडों ने खुलेआम गोली मार दी। वहीं बुलन्दशहर में इंस्पेक्टर सुबोध सिंह को बजरंग दल के गुंडों ने जान से मार दिया। कुछ दिनों पहले ही 80 साल के हिन्दू सन्त स्वामी अग्निवेश पर संघी भीड़ ने हमला कर दिया था और सड़क पर गिराकर उन्हें मारा था। दरअसल संघ और मोदी सरकार का किसी भी धर्म से कोई लेना देना नहीं है! इनका एकमात्र मकसद अम्बानी-अडानी की सेवा करना है और हमें भरमाने के लिए जुमलों और नकली मुद्दों को उछालकर भीड़ मानसिकता फैलाकर दंगे भड़काना है। इस भीड़ को भाजपा का आईटी सेल, संघ की शाखाएँ और मोदी सरकार की गोदी मीडिया पोषित कर रही है। जो लोग यह सोच रहे थे कि हिन्दू राष्ट्र और देश का विकास हो रहा है तो भाजपा सरकार के आर्थिक घोटालों ने यह साफ़ कर दिया है कि इनका विकास सिर्फ देश के बड़े पूँजीपतियों के लिए है और उनके तलवे चाटने में ये कांग्रेस से भी कई कदम आगे हैं।

हाल फिलहाल में सबके सामने ही खुल रहा सीबीआई घटनाक्रम क्लाइमेक्स तक पहुँचने के करीब है जिसने उपरोक्त विश्लेषण को तथ्यतः पुष्ट किया है। जहाँ तमाम चुनावबाज़ पार्टियाँ और 'प्रगतिशील' जमात इसपर आँसू बहा रही हैं कि सीबीआई और आरबीआई पर हमला मोदी सरकार द्वारा देश की 'स्वतंत्र' संस्थाओं को खत्म करना है! परन्तु इस घटनाक्रम ने यह साफ किया है कि ये संस्थाएं 'स्वतंत्र' थी ही नहीं और पूँजीपति वर्ग की सत्ता का अभिन्न अंग थी जिनकी पूँजीवादी सरकारों से सापेक्षिक 'स्वतंत्रता' पूँजीवाद के दूरगामी हितों की रक्षा के लिए होती है परन्तु फासीवाद के दौर में आर्थिक संकट के चरम पर होने पर यह सापेक्षिक स्वायत्तता भी निरंकुश शासन के मातहत आ जाती है और जनता के सामने यह झीना पर्दा गिरने लगता है। सत्ता के अन्दर की सड़ाँध जब निकलकर सड़कों पर बाहर आ रही हो और सत्ता के खाने के दाँत जब आपसी खींचतान में उजागर हो जाएँ तो यह असल में बेहतर है। आरबीआई के साथ भी सरकार की तनातनी इस ओर इशारा करती है कि बढ़ते आर्थिक संकट के कारण फासीवादी शासक इन संस्थानों की सापेक्षिक स्वतन्त्रता बर्दाश्त नहीं कर पा रहे हैं और हर संस्थान को पुरजोर तरीके से बड़ी पूँजी की सेवा में लगा रहे हैं। आइये इसे समझने के लिए एक बार सीबीआई के इस अन्दरूनी विस्फोट के पहले इसके आधार को तैयार करने वाली घटनाओं पर नज़र डाल लेते हैं। इसके पीछे राफेल घोटाले की जाँच थी जिसने मौजूद परिस्थिति को जन्म दिया है। राफेल घोटाले का सार यह है कि भारत के लिए हवाई जहाज बनाने वाली कम्पनी एचएएल से राफेल जहाज का ठेका 7 दिन पहले बनी अनिल अम्बानी की कम्पनी को दे दिया जाता है वह भी तीन गुने दाम पर। इस घोटाले से उजागर होने पर दस्सों के सीईओ, अनिल अम्बानी, अरुण जेटली से लेकर सितारमन के झूठ पकड़े जा चुके हैं और बौखला कर अनिल अम्बानी ने कुछ मीडिया संस्थानों पर 5000 करोड़ रुपये का मानहानि का मुकदमा भी ठोक दिया है। सीबीआई के घमासान के पीछे मेहुल चौकसी, नीरव मोदी, स्टर्लिंग बायोटेक और मोईन कुरैशी सरीखों द्वारा किये गये करोड़ों के घोटालों की जाँच का दबाव भी था जिन्हें भगाने में सरकार के मंत्रियों और प्रधानमंत्री कार्यालय द्वारा मदद की गयी। इस घटनाक्रम में अजित दोभाल भी शामिल था। राफेल सौदे और मेहुल चौकसी, नीरव मोदी, स्टर्लिंग बायोटेक पर कार्यवाही की तैयारी करते हुए सीबीआई डायरेक्टर आलोक वर्मा द्वारा जाँच आगे बढ़ाना मोदी सरकार के लिए नागवार था। स्टर्लिंग बायोटेक और मोइन कुरेशी की जाँच के आधार पर मोदी के करीबी अफसर राकेश अस्थाना पर एफआईआर दर्ज की गयी तो आलोक वर्मा को रात को

2 बजे पद से हटा दिया गया। भ्रष्टाचार के आरोप से दागदार और हिंदुत्व के करीबी अफसर वी. राव को सीबीआई का चीफ बनाया जिसने सबसे पहले राकेश अस्थाना के ऊपर लगे मामलों की जाँच कर रहे अफसरों का ट्रांसफर कर दिया है। इनमें से एक को अंडमान भेज दिया गया है। नवनियुक्त सीबीआई डायरेक्टर ने एचएएल के कर्मचारियों के ऊपर भी केस दर्ज किये हैं। जब आलोक वर्मा सुप्रीम कोर्ट पहुँचे तो वहाँ भी उन्हें कोई ख़ास राहत नहीं मिली है। हालाँकि सुप्रीम कोर्ट ने राव को नीतिगत फैसले लेने से मना कर दिया परन्तु यह बस कहने की बात ज़्यादा लग रही है। यह घटनाक्रम अभी पूरी तरह खुल ही रहा था कि आरबीआई के उप-चेयरमैन ने सरकार को संस्थान कि स्वायत्ता के साथ छेड़छाड़ न करने की हिदायत दी जिसपर अरुण जेटली ने सख्त आपत्ति दर्ज कराई और अगले ही दिन सरकार ने सेक्शन-7 के जरिये आरबीआई के कान उमेठकर कॉर्पोरेट घरानों को चंदा मुहय्या करवाने के लिए अपने रिजर्व को खोलने की धमकी दी। इस का अन्ततः निष्कर्ष यह निकाला कि उर्जित पटेल ने आरबीआई चेयरमेन के पद से इस्तीफा दे दिया है और मोदी सरकार ने अपने पिट्ठू शक्तिकान्त दास को चेयरमेन के पद पर बैठा दिया है।

यह घमासान दरअसल व्यवस्था के अन्दर चल रहे भीषण संघर्ष को ही अभिव्यक्त करता है। नोटबन्दी से लेकर जीएसटी ने जहाँ सीधे छोटी पूँजी को तबाह कर दिया वहीं पिछले एक साल में इंफ्रास्ट्रक्चर से जुड़ी तमाम कम्पनियाँ नीलामी के कगार पर पहुँच रही हैं। यह घमासान आर्थिक संकट में डूबते पूँजीपति वर्ग के हिस्सों के बरक्स मोदी के चहेते प्रक्रियावादी वित्तीय पूँजीपतियों के हिस्से के हकों की रक्षा के लिए उठाये गये कदमों का नतीजा है। पिछले 2-3 सालों में देश में भयंकर आर्थिक संकट का घमासान चल रहा है और यही सरकारी तंत्र तक पहुँचने लगा है। पूँजीवाद में बहु-पार्टी जनवाद की मौजूदगी का कारण पूँजीपति वर्ग के बीच प्रतिस्पर्धा होती है जहाँ तमाम पार्टियाँ शासक वर्ग के तमाम हिस्सों का प्रतिनिधित्व करती हैं। फासीवाद के दौर में घोर प्रतिक्रियावादी वित्तीय पूँजी इजारेदारी तानाशाही की ओर बढ़ती है। आज इस तानाशाही को लागू करने का काम ही मोदी सरकार कर रही है। मुनाफे की गिरती दर जहाँ पूँजीवादी संकट को एक स्थैतिक परिघटना बना चुकी है जो जल्द ही 2008 से भी विकराल रूप लेने वाला है ऐसे में इस दौर में वित्तीय इजारेदारियों द्वारा अधिक से अधिक मुनाफा बटोर लेने की होड़ मची है। खुफिया एजेंसियाँ जो भारतीय राज्य व्यवस्था के ज़रूरी उपांग हैं उनतक इन सौदों की पहुँच होती ही है। सापेक्षिक स्वायत्तता वाले संस्थान जो पूँजीपतियों के बीच 'स्वस्थ' प्रतिस्पर्धा को संचालित करते हैं अब वित्तीय पूँजी को बाधा प्रतीत होने लगे हैं और इस वर्ग की इस हवस की पूर्ति करने के लिए ही मोदी सरकार इन संस्थानों को या तो पंगु बनाकर या इनमें अपने लोग घुसाकर वित्तीय पूँजी के मुनाफे की हवस की पूर्ति में बाधा को हटा रही है। काँग्रेस के शासन में भी सीबीआई पिंजड़े में बन्द तोते के समान थी जिसके पास बेहद सीमित अधिकार थे परन्तु मोदी सरकार सीबीआई की किसी भी हर किस्म की सापेक्षिक स्वतन्त्रता को खत्म कर रही है। सरकार में आने के बाद भी जो संसदीय प्रणाली बचीखुची है जिसे देखकर भारत की वामपन्थीय पार्टियों को 'समाजवाद' लाने की उम्मीद दिखती रहती है वह भी खत्म हो रहा है।

राफेल सौदा सरीखे भ्रष्टाचार पूँजीवाद के आम सौदे हैं। मोदी सरकार जो स्वच्छ सरकार की बात करती आई थी वह इन भ्रष्टाचारों को सामने आने ही नहीं देना चाहती है। परन्तु संसदीय व्यवस्था के संकुचित ढाँचे में भ्रष्टाचार उजागर हो जा रहे हैं जिसे तमाम तिकड़म लगाकर दबाने का प्रयास किया जाएगा। जिस प्रकार जज लोया को अमित शाह के खिलाफ फैसला सुनाने के पहले ही मार दिया गया था और इस क्रम में आलोक वर्मा को पहले हटाया गया और उनके घर के आगे आईबी ने निगरानी भी रखनी शुरू कर दी गयी है। आलोक वर्मा के उदाहरण के जरिये तमाम नौकरशाही को भी सन्देश दिया गया है कि जो भाजपा के खिलाफ बोलेगा उसे हटा दिया जाएगा। शायद आलोक वर्मा सरीखा अंजाम होने से पहले ही उर्जित पटेल ने इसलिए ही स्वयं इस्तीफा दे दिया। फासीवाद निम्न मध्य वर्ग का प्रतिक्रियावादी आन्दोलन होता है जिसे काडर आधारित पार्टी संगठित करती है। जनता के बीच संघ अपने काडर को गली-गली मोहल्लों में फैलाता है। वहीं यह राज्यसत्ता के अंग-उपांग पर भी कब्जा करता है। ग्राम्शी की शब्दावली में फासीवाद धीरे-धीरे जनता के बीच और राज्यसत्ता की पोर-पोर में समा जाता है जिसे उन्होंने मौलिक्युलर परमीएशन कहा था। मौजूदा उठा-पटक सीबीआई के भीतर से इस फासीवादी 'परमीएशन' के खिलाफ ही प्रतिरोध है जिसे आखिर टूटना ही है। मौजूदा समय में सीबीआई और ऐसी ही अन्य कई घटनाओं के चलते ही देश में इस समय मोदी सरकार के प्रति विपरीत हवा बह रही है परन्तु आरएसएस के जनाधार, मीडिया द्वारा भयंकर प्रचार, बेहद कमज़ोर चुनावी विपक्ष और जनता के बिखरे जनान्दोलनों को समेटने में नाकामयाब क्रान्तिकारी शक्तियों के कारण मोदी सरकार के खिलाफ लहर को आन्दोलनात्मक अभिव्यक्ति नहीं मिली है बस कुछ बिखरे आन्दोलन देश भर में खड़े हुए हैं।

आज दुनिया भर में आर्थिक संकट के बादल छाने के चलते फासीवादियों द्वारा देश को अडानी-अम्बानी को बेचने के बावजूद भी आर्थिक संकट की मंडराती छाया ने बाज़ार पर खतरा खड़ा किया है; जिस कारण सरकार को और अधिक नंगेपन के साथ जनविरोधी नीतियों को लागू कर अमीरों की जेबें भरनी होंगी। इसे अन्तरराष्ट्रीय परिप्रेक्ष्य में भी रखकर

देखने की ज़रूरत है। दुनिया भर के हुक्मरान इस कदर एक दूसरे से उलझे हुए हैं कि साम्राज्यवाद के मौजूदा दौर में एक छोटी सी घटना भी युद्ध को जन्म दे सकती है। इसकि अभिव्यक्ति अरब की ज़मीन पर मिलती है जहाँ रूस-चीन-ईरान की धुरी के खिलाफ अमरीका-इजराइल- सऊदी अरब के बीच छाया युद्ध चल रहे हैं। ब्राज़ील में फासीवादी बोलसनेरो सत्ता में पहुँच गया है और अब जल्द ही वहाँ भी "अच्छे दिनों" की दस्तक होगी।

दुनिया के हर कोने में इस प्रतिक्रियावादी आन्दोलन को परास्त करने में सबसे अग्रणी ताकत युवाओं छात्रों और मज़दूरों की ही होगी। इसका ताजा उदाहरण फ्रांस के छात्रों और मजदूरों का यैलो जैकेट आंदोलन है जो सरकार की मजदूर विरोधी और छात्र विरोधी नीतियों के खिलाफ़ स्वतस्फूर्त तौर पर उठ खड़ा हुआ है। जो लोग चुनावी रास्ते पर दाँव लगाकर बैठे हैं वे बार-बार गलत साबित हुए हैं परन्तु वे एमनीशिया का शिकार हैं और इतिहास से कोई सबक लेने में अक्षम हैं। अभी तक देश के कम्युनिस्टों एक हों का नारा लगाने वाले तथाकथित वामपन्थी और प्रगतिशील लोग सभी विपक्षीय पार्टियों एक हो का नारा लगा रहे हैं। इस दौरान फासीवाद से लड़ने के नाम पर ये विचित्र किस्म की लीलाएँ भी कर रहे हैं। इन जोकरों की नीतियों का भण्डाफोड़ भी आगामी संघर्ष के लिए ज़रूरी है। आज जो असल संघर्ष के ज्वलन्त मुद्दे हैं उन्हें हमें अपने एजेंडे पर रखना ही होगा। आज फासीवाद विरोधी आन्दोलन में एक तरफ़ क्रान्तिकारी संस्थानिर्माण करना होगा तो दूसरी तरफ़ बेरोज़गारी व शिक्षा के सवाल पर जनता के जुझारू आन्दोलन खड़े करने होंगे! संसदीय जनवाद का जो भी बचा-खुचा स्पेस है उसका इस्तेमाल कर पूँजीवाद का भण्डाफोड़ आयोजित करना होगा जिससे एक समतामूलक समाज का सपना आम जनता तक पहुँचाया जा सके।

***देश को एक आमूल परिवर्तन की आवश्यकता है। और जो लोग इस बात को महसूस करते हैं उनका कर्त्तव्य है कि साम्यवादी सिद्धान्तों पर समाज का पुनर्निर्माण करें। जब तक यह नहीं किया जाता और मनुष्य द्वारा मनुष्य का तथा एक राष्ट्र द्वारा दूसरे राष्ट्र का शोषण, जिसे साम्राज्यवाद कहते हैं, समाप्त नहीं कर दिया जाता तब तक मानवता को उसके क्लेशों से छुटकारा मिलना असम्भव है, और तब तक युद्धों को समाप्त कर विश्व-शान्ति के युग का प्रादुर्भाव करने की सारी बातें महज ढोंग के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं हैं। क्रान्ति से हमारा मतलब अन्ततोगत्वा एक ऐसी समाज-व्यवस्था की स्थापना से है जो इस प्रकार के संकटों से बरी होगी और जिसमें सर्वहारा वर्ग का आधिपत्य सर्वमान्य होगा। और जिसके फलस्वरूप स्थापित होने वाला विश्व-संघ पीड़ित मानवता को पूँजीवाद के बन्धनों से और साम्राज्यवादी युद्ध की तबाही से छुटकारा दिलाने में समर्थ हो सकेगा।"***

***-भगत सिंह, सेशन कोर्ट में बयान***

समाज

# 'मी टू' मुहिम : एक समालोचना

● कविता कृष्णपल्लवी

फिलहाल भारत में 'मी टू' का कोलाहल दिग-दिगन्त में व्याप्त है। न सिर्फ सोशल मीडिया पर अतिसक्रिय बुर्जुआ नारीवादी वीरांगनाएँ इसे लेकर अति उत्साह और उद्दाम आशावाद से भरी हुई हैं, बल्कि कई प्रगतिशील और वामपन्थी भी इसमें स्त्री आन्दोलन की नयी उठान का दर्शन करने लगे हैं और भाव-विह्वल होकर इसका स्वागत कर रहे हैं।

पहले ही यह स्पष्ट कर दूँ कि मैं 'मी टू' जैसी किसी मुहिम की सिरे से विरोधी नहीं हूँ। लेकिन इसकी सम्भावनाओं और परिणतियों को जिस तरह अति की सीमा तक बढ़ा-चढ़ाकर प्रस्तुत किया जा रहा है, वह ज़रूर आपत्तिजनक है। बेशक़, उस झिझक-संकोच भरी चुप्पी को एक झटके से तोड़ दिया जाना चाहिए जिसका लाभ लम्पट "शरीफ़ज़ादे" उठाते हैं। इस एक कदम पर स्वतंत्र-स्वायत्त रूप से मूल्य-निर्णय देना हो तो यही कहा जा सकता है कि यह किसी स्त्री के चुप रहने से बेहतर है कि वह अपने यौन-उत्पीड़न के विरुद्ध खुलकर बोले। बेहतर होता कि तुरन्त बोलती, लेकिन अगर देर से भी वह बोलने का साहस जुटा पाती है, तो भी कोई बात नहीं। आपत्ति इस अप्रोच पर है जो वैयक्तिक स्तर पर उठने वाली इन आवाज़ों के कुल योग को एक सामाजिक आन्दोलन का रूप या विकल्प बनाकर पेश कर रहा है। वे स्त्रियाँ (और पुरुष भी) जो सोचती हैं कि स्त्रियाँ अगर अपने विरुद्ध होने वाले किसी यौन-अपराध के विरुद्ध चुप्पी तोड़कर बोलने लगेंगी तो हालात में कुछ आमूलचूल बदलाव आ जायेंगे, भारी मुग़ालते में जी रही हैं। और अहम बात अब यह है कि इस मुग़ालते को ज़ोर-शोर से बढ़ावा दिया जा रहा है। बेशक़ यह अपने-आप में एक सकारात्मक बात है, लेकिन यह प्रतिरोध की शुरुआत भी नहीं है, उसकी भूमिका के तमाम उपक्रमों में से एक उपक्रम मात्र है। स्त्री  उत्पीड़न के बुनियादी कारण सामाजिक हैं और इसके प्रतिरोध की कड़ियाँ सामूहिक तौर पर ही संगठित की जा सकती है और याद रखें कि बिखरी हुई वैयक्तिक पहलकदमियों के कुल योग को सामूहिक नहीं कहा जा सकता, चाहे मुख्य धारा की मीडिया और सोशल मीडिया पर उसका शोर जितना भी मच जाये। 'मी टू' जैसे प्रतिरोध के फॉर्म की सीमाओं को यदि न समझा जाये तो यह एक चौंक-चमत्कार भरे प्रतीकवाद से आगे कहीं नहीं जायेगा।

पश्चिम में 'मी टू' ने एक सोशल मीडिया केन्द्रित मुहिम के रूप में ज़ोर तब पकड़ा जब अमेरिकी अभिनेत्री अलीसा मिलानो ने अक्टूबर 2017 में मीटू हैशटैग फैलाने को प्रोत्साहित किया ताकि समाज मे यौन-उत्पी ड़न की दबी-छुपी घटनाएँ सामने आयें, उत्पीड़िताएँ खुलकर बोलें और उत्पीड़कों पर एक सामाजिक दबाव पैदा हो। लेकिन दरअसल 'मी टू' मुहावरे की शुरुआत 2006 में हुई थी जब अमेरिका की ही एक सामाजिक कार्यकर्ता टाराना बर्क ने 'माइ स्पेस' नामक सामाजिक नेटवर्क पर इसकी शुरुआत की थी। बर्क की मुहिम की सीमा उसके द्वारा दिये गये नारे से ही समझी जा सकती थी। वह नारा था: "तदनुभूति के जरिए सशक्तिकरण", यानी इसका लक्ष्य कोई सामाजिक आन्दोलन खड़ा करना नहीं, बल्कि आपस में दु:ख बाँटकर स्त्रियों को बल देना था। बहरहाल, आन्दोलन ने ज़ोर पकड़ा गत वर्ष अक्टूबर में अभिनेत्री मिलानो की पहल के बाद और अमेरिका तथा अधिकांश यूरोपीय देशों में (और फिर एशिया, लातिन अमेरिका और अफ्रीका के कई देशों में भी) कई उत्पीड़िताओं ने मीडिया में सामने आकर या सोशल मीडिया में लिखकर अपने यौन-उत्पीड़न के बारे में बताया और कई नामचीन हस्तियों के चेहरों से नक़ाब उतारने का काम किया। फिल्म, फैशन, विज्ञापन, संगीत और मीडिया जगत के बाद राजनीति, सेना, वित्त, शिक्षा, चिकित्सा, खेल और चर्च के नामी-गिरामी लोगों के भी नाम आये। कुछ पर जाँच और कानूनी कार्रवाइयाँ शुरू हुईं, कुछ इस्तीफ़े हुए और कुछ पश्चाताप-प्रकटीकरण भी हुए। अभी यह सिलसिला जारी ही है। भारत में इस मुहिम ने ज़ोर पकड़ा जब गुज़रे ज़माने की एक अभिनेत्री तनुश्री दत्ता ने 2008 में एक फिल्मी शूटिंग के दौरान नाना पाटेकर पर यौन-उत्पीड़न का आरोप लगाया। फिर लेखिका विनीता नन्दा ने अभिनेता आलोकनाथ पर ऐसा ही आरोप लगाया। फिर तो एक सिलसिला सा चल पड़ा और फिल्म, संगीत, टी.वी., मीडिया और विज्ञापन की दुनिया के दर्ज़नों 'इज़्ज़तदार' सफेदपोशों की दिमाग़ी रुग्णताओं और आततायीपन के बारे में लोगों को "विस्फोटक" जानकारियाँ मिलीं। कई लोगों को फिल्मों और टी.वी. सीरियल्स आदि के कई प्रोजेक्ट छोड़ने पड़े। ऐसे ही एक आरोपी विनोद दुआ की जाँच होने तक 'वायर' न्यूज़ पोर्टल ने उनके कार्यक्रम को रोक दिया। पर सबसे महत्वटपूर्ण घटना थी क़रीब 20 पूर्व सहकर्मियों द्वारा बलात्कार और यौन-उत्पीड़न के आरोपों के बाद मोदी-मंत्रिमण्ड्ल से भूतपूर्व दिग्ज पत्रकार एम.जे. अकबर का

इस्तीफा, प्रसंगवश, एक और दिलचस्प तथ्य इस संदर्भ में यह है कि यूँ तो छद्मवामियों, लिबरलों और एन.जी.ओ. पंथियों में लम्पटों की कमी नहीं है, लेकिन भारत मे अबतक 'मी टू' के दौरान जो चेहरे नंगे हुए हैं, उनमें चन्द अपवादों को छोड़कर, अधिकांश की संघी राजनीति या धुर-दक्षिणपन्थी राजनीति के किसी न किसी शेड से क़रीबी बनती है। बहरहाल, यह मूल प्रतिपाद्य न होकर अवांतर प्रसंग है, अत: मूल विषय पर वापस लौटें।

मेरी आपत्ति या आलोचना का एक केंद्रीय बिन्दु यह है कि 'तदनुभूति के ज़रिए सशक्तिकरण' बुर्जुआ दायरे के किसी जनवादी अधिकार आन्दोनलन जितना भी सम्भावनासम्पन्न नहीं है। अपने उत्पीड़न के विरुद्ध किसी व्यक्ति का बोलना तभी एक फलदायी प्रक्रिया बन सकता है जब ऐसी सभी आवाज़ें एक सामूहिकता में संघटित हों और उस सामाजिक व्यवस्था को निशाने पर लेते हुए सड़कों पर लामबंद होने की दिशा में आगे बढ़ें जो ऐसे तमाम उत्पीड़नों की जन्मदात्री है। 'मी टू' के दौरान बेनकाब होने वाले चेहरे, मुमकिन है कि, कुछ समय तक सकपका जायें या चुप्पी साध जायें, चन्द लोग फिल्मों आदि के प्रोजेक्ट से (कुछ समय के लिए) निकाले जा सकते हैं, पर आप देख लीजियेगा, ऐसे तमाम लोग कुछ समय बीतते ही अपने सामाजिक रुतबे और बेशर्म हँसी के साथ फिर से सार्वजनिक जीवन में सक्रिय होंगे क्योंकि समाज में वर्चस्वशील पुरुषस्वामित्ववाद उन्हें पूरा सहारा-संरक्षण और प्रोत्साहन देगा। मीडिया, मनोरंजन उद्योग राजनीति और सामाजिक जीवन के हर क्षेत्र में मौजूद यौन-ड्रैक्युला गले में दाँत धँसा देने के लिए स्त्रियों पर फिर भी घात लगाये रहेंगे। बस, अब वे यह काम थोड़ा अधिक चौकन्ना होकर करेंगे। और अगर स्थिति में थोड़ा-बहुत मात्रात्मक अन्तर आ ही जाये, तो इससे भला क्या फ़र्क पड़ जायेगा। ज़रूरत इस बात की है कि संघर्ष के निम्न और प्रचारपरक रूपों के साथ-साथ स्त्री -विरोधी सांस्थानिक हिंसा और सांस्थानिक यौन-उत्पीड़न के रूपों के विरुद्ध संघर्ष की एक दीर्घकालिक रणनीति पर काम किया जाये। 'मी टू' अगर इस लम्बी यात्रा का एक प्रारम्भिक कदम होता तो हमारी कोई आपत्ति नहीं होती। लेकिन इसे जिस तरह 'ग्लैमराइज़' और 'ग्लोरीफाई' किया जा रहा है, उससे यह चौंक-चमत्कार भरे कुलीनतावादी प्रतीकवाद की चौहद्दियों में गिरफ्तार होकर रह जा रहा है।

दूसरा नुक्ता इसी पहले नुक्ते से जुड़ा हुआ है। 'मी टू' सामाजिक ढाँचे को नहीं, व्यक्ति को निशाने पर लेता है और बात इससे आगे जाती ही नहीं। नतीज़तन, सारा मामला सनसनीखेज बनकर रह जाता है और कालान्तर में बासी पड़कर मर जाता है। एक तीसरा नुक्ता यह भी उठाया जा सकता है कि 'नेमिंग-शेमिंग' का यह फॉर्म कानूनी कार्रवाई के दायरे से अलग 'मीडिया ट्रायल' का एक ऐसा रूप बन सकता है, जिसमें कोई अपना व्यक्तिगत हिसाब-किताब भी चुकता कर सकता है। बुर्जुआ न्याय सिद्धान्त भी अधिकांश लोगों के अपराधी होने के तर्क से किसी एक बेगुनाह के अपराधी सिद्ध किये जाने का औचित्य-प्रतिपादन नहीं करता। इस कोण से भी इस प्रश्न पर सोचा जाना चाहिए।

चौथा बिन्दु यह है कि घरों और कार्यस्थलों पर यौन-उत्पीड़न के विविध रूपों का सर्वाधिक शिकार होने वाली मेहनतकश स्त्रियों और आम मध्य वर्गीय गृहिणियों की आबादी इस 'मी टू' मुहिम के एकदम बाहर है। सोशल मीडिया (जो इस मुहिम का मुख्य "रणक्षेत्र" है) आम मेहनतकश स्त्रियों का जनवादी स्पेस है ही नहीं। इस रूप में 'मी टू' मुहिम न सिर्फ एक आन्दोलन नहीं है, बल्कि इसका एक स्पष्ट कुलीनतावादी चरित्र है।

सामाजिक आन्दोलन वाले मसले को स्पष्ट करने के लिए मैं एक उदाहरण देना चाहूँगी। फरवरी 2017 में एक मलयालम अभिनेत्री पर कुछ गुण्डों ने हमला किया जिसके पीछे मलयालम अभिनेता दिलीप का हाथ पाया गया और वह जुलाई 2017 में गिरफ्तार हो गया। मामला कोर्ट में आज तक चल रहा है। फिर एक कास्टिंग डायरेक्टर टेस जोसेफ ने ट्विटर पर अभिनेता मुकेश पर यौन-उत्पीड़न का आरोप लगाया। यह मामला तब तूल पकड़ गया जब मलयालम फिल्म कलाकार संघ ने दिलीप की सदस्यता फिर से बहाल कर दी। फिर मलयालम फिल्मों की स्त्री कलाकारों ने 'वुमन इन सिनेमा कलेक्टिव' नामक संगठन बनाकर सड़कों पर मोर्चा खोला। फिल्म कलाकार संघ को बाध्य होकर दिलीप को बाहर का रास्ता दिखाना पड़ा। यह मलयालम फिल्म उद्योग में हावी पुरुष वर्चस्वरवाद के खिलाफ एक संगठित आन्दोलन था, जो तात्कालिक तौर पर भी सफल रहा और जिसने आगे के लिए भी एक रास्ता खोला। यह 'मी टू' जैसा सनसनीखेज प्रतीकवाद नहीं था।

एक और उदाहरण। एक बुर्जुआ नारीवादी ने झुँझलाकर कहा कि तुमलोग तो उसी आन्दोलन को सपोर्ट करोगे, जो समाजवाद और स्त्रियों की पूर्ण मुक्ति तक जाता हो। मैंने उन्हें बताया कि ऐसा कत्तई नहीं है। हम बुर्जुआ दायरे के भीतर सुधार और जनवादी अधिकार के हर आन्दोलन का समर्थन करते हैं, सिर्फ सुधारवाद, प्रतीकवाद और कुलीनतावाद का विरोध करते हैं। जैसे 'पिंजरा तोड़ो' आन्दोलन दिल्ली और पंजाब में कुछ लड़कियों की व्यक्तिगत पहलकदमी पर शुरु हुआ। पर जल्दी ही देश के दर्जनों विश्वविद्यालयों में यह उन छात्राओं का सड़क का आन्दोलन बन गया जो चाहती थीं कि उनको भी देर रात तक पुस्तकालयों में बैठने की छूट हो और छात्रावासों के फाटक शाम सात बजे ही बन्द करके आवाजाही या मिलने-जुलने पर रोक न लगायी जाये। इस तरह 'पिंजरा तोड़ो' प्रतीक

(पेज-11 पर जारी)

# सबरीमाला के निहितार्थ

● राखी नारायण

सबरीमाला मन्दिर में महिलाओं के प्रवेश का मुद्दा केरल में राजनीतिक ध्रुवीकरण का अहम मुद्दा बन रहा है। भाजपा और संघ ने इस मुद्दे के जरिये अपनी ज़मीन को विस्तारित करने का प्रयास किया है। हाल ही में केरल भाजपा अध्यक्ष की फोन पर बातचीत का ऑडियो उजागर हुआ जिसमें वे इस मुद्दे के जरिये राजनीतिक विस्तार की बात कर रहे थे। इस मुद्दे पर तमाम चुनावी और राजनीतिक दलों की अवस्थिति सामने आ रही है। जहाँ भाजपा इसके जरिये अधिक से अधिक अपने प्रचार और हिन्दू भावनाओं को 'आहत' कर अपनी राजनीतिक ज़मीन को विस्तारित कर रही है तो वहीं काँग्रेस ने इस मुद्दे में सक्रिय तौर पर मन्दिर में महिलाओं के प्रवेश को बन्द करने की माँग उठाई है। वहीं सीपीएम इस मुद्दे पर कभी मन्दिर में महिलाओं के प्रवेश को मना कर रही थी तो कभी इसपर यह प्रदर्शित कर रही थी कि वे महिलाओं के प्रवेश के समर्थक हैं और अब वे सुप्रीम कोर्ट द्वारा इस फैसले को लागू करवाने के लिए प्रतिबद्ध हैं। उनकी अवस्थिति अवसरवादी चुनावी राजनीति के मद्देनज़र हिन्दू भावना को ठेस न पहुँचाने की ही रही है। इस मसले में सबसे ज़्यादा फायदा भाजपा और संघ को मिल रहा है।

भाजपा को एक तरफ जहाँ मुस्लिम महिलाओं के तीन तलाक मुद्दे में महिला सशक्तिकरण नज़र आ रहा था वहीं अब उसको हिन्दू महिलाओं के मन्दिर में प्रवेश जैसे मुद्दे पर धर्म और परम्पराओं में हस्तक्षेप लगता है। इस पूरे मामले में यह भी पूरी तरह स्पष्ट होता है कि असल में बीजेपी सरकार को न तो स्त्रियों से कुछ लेना देना है न ही महिला सशक्तिकरण से, उनका लक्ष्य केवल और केवल धार्मिक ध्रुवीकरण की राजनीति करके सत्ता हासिल करना है। बीजेपी-आरएसएस की "यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते" संस्कृति पर अगर लिखा जाए तो कई किताबें लिखनी पड़ सकती हैं, आगे हम इसके कुछ उदाहरण भी रखेंगे, फिलहाल हम अपना ध्यान सबरीमाला के मुद्दे पर केन्द्रित करते हैं। फिर भी इस पूरे मामले की पड़ताल करते हुए हम धार्मिक पोंगापन्थ और उसके झण्डाबरदारों यानी बीजेपी-आरएसएस की असलियत को सामने रखने का प्रयास करेंगे। सबरीमाला मुद्दे पर यह स्पष्ट करना जरूरी है कि धार्मिक आचरण करने में भी पुरुषों के समान महिलाओं के अधिकार को स्वीकार करते हुए भी यह बात ज़ोर देकर उठायी जानी चाहिए कि हमारे देश की महिलाओं का सशक्तिकरण एक मन्दिर में प्रवेश करने या न करने से नहीं होने वाला, दरअरसल यह महिला मुक्ति की लड़ाई को धार्मिक पोंगापन्थ के दायरे में ही सीमित करने की एक कोशिश है। वहीं यह सवाल भी उठाया जा रहा है कि क्या लोगों को अपने धर्म के अनुसार पूजा पाठ व मन्दिर में कर्मकाण्ड करने का अधिकार नहीं है। व कुछ लोग यह भी कह रहे हैं कि कुछ मन्दिरों में केवल महिलाओं को जाने की अनुमति है व यह महिला या पुरुष का मसला नहीं बल्कि धार्मिक आचरण का मसला है। यहाँ सवाल यह है कि अगर धार्मिक आचरण मानव अधिकारों और जनवादी अधिकारों के खिलाफ जाएगा तो निश्चित ही ऐसा धार्मिक आचरण गलत है। इस मसले को गहराई से समझने के लिए हमें पहले सबरीमाला के इतिहास को देख लेना चाहिए।

## सबरीमाला मन्दिर और सुप्रीम कोर्ट का फैसला

सबरीमाला मन्दिर केरल में स्थित है। भगवान अय्यप्पा का यह मन्दिर 12वीं सदी में बनवाया गया। इस मन्दिर में 10 से 50 साल की उम्र की महिलाओं का जाना वर्जित है। उसकी मान्यता के हिसाब से मन्दिर में विराजमान भगवान अयप्पा ब्रह्मचर्य का पालन करने वाले थे, ऐसे मे अगर उनकी नज़र किसी भी बालिग स्त्री या नवयुवती (10 से 50 उम्र की) पर पड़ेगी तो इससे उनका ब्रह्मचर्य भंग हो जायेगा! एक अन्य मान्यता के अनुसार स्त्री अपने मासिक धर्म के दौरान अपवित्र हो जाती है, ऐसे में उन्हें अयप्पा भगवान का दर्शन नहीं करना चाहिए। यह सोच मनुस्मृति को नैतिक शास्त्र मानने वाले ब्राह्मणवादी विचारों की ही अभिव्यक्ति है जिसका अनुपालन संघ करता है। मसलन मनुस्मृति महिलाओं के बारे में यह कहती है:

"धरती पर मनुष्यों को भ्रष्ट करना महिलाओं की प्रकृति है; इसी कारण से, सतर्क पुरुष लापरवाह नहीं होते और लापरवाह महिलाओं के बीच भी लापरवाही नहीं करते ... किसी को भी अकेले में अपनी मां, बहन या बेटी के साथ नहीं बैठना चाहिए; क्योंकि संवेदनात्मक शक्तियों के मजबूत समूह के कारण एक विद्वान आदमी भी भटक जाता है। "

इस नैतिकता के चलते भ्रष्ट महिलाओं को पाठ पढ़ाने के लिए सबरीमाला की तरफ जा रही महिला पत्रकारों से आरएसएस के काडर मारपीट कर रहे हैं। ये "महावीर" और उनकी सुर में सुर मिलाती मुख्यधारा मीडिया हमें यह बता रही

है कि यह हज़ारों साल पुरानी परम्परा है जिसके समर्थन में एक बड़ी आबादी को एकजुट किया जा रहा है। संघ के तमाम नेता ऐसा दावा कर रहे हैं कि मन्दिर में सदियों पुरानी परम्परा है। कोर्ट में सबरीमाला मन्दिर के समर्थकों द्वारा दायर की गयी अपील को सुन लेना भी मजेदार है और इस सवाल पर बहस के बाद ही कोर्ट ने अपना फैसला सुनाया था। इस अपील के अनुसार:

"मन्दिर के मालिक के रूप में ईश्वर को संविधान के अनुच्छेद 21 के तहत निजता का अधिकार है, जो उन्हें अपने ब्रह्मचर्या का पालन करने का अधिकार देता है ... अन्त में ईश्वर को भी अपने धरम का पालन करने का अधिकार है जिस तरह हर व्यक्ति अनुच्छेद 21(1) के तहत कर सकता है।"

दरअसल यही तर्क आज तमाम बहसों में इस्तेमाल हो रहा है। खैर जब देश में एक तरफ 9000 बच्चे रोज़ भूख से मरते हों तब इस तरह के तर्क लोगों को भ्रमित रखने के लिए ज़रूरी होते हैं। सबरीमाला मन्दिर में महिलाओं के प्रवेश पर प्रतिबन्ध का इतिहास जानने के लिए अगर हम केरल के क्षेत्रीय अखबारों को और इस मामले में दायर की गयी याचिका को आधार बनायें तो कुछ अलग ही सच्चाई सामने आती है। सबरीमाला मन्दिर में 1965 तक महिलाओं के प्रवेश पर कोई रोक नहीं थी, उसके बाद पाबन्दी लगने के बावजूद पारम्परिक रीति-रिवाजों जैसे कि दुधमुँहे बच्चे के पहले अन्न पारण्ड की रस्म निभाने माताएँ अपने बच्चों को लेकर जाती थीं। इसके अतिरिक्त और भी ऐसे उदाहरण हैं जब यह बात सामने आती है कि उच्च वर्ग की महिलाएँ वहाँ जाया करती थीं। इसके अलावा मन्दिर में बहुत बार अभिनेत्रियों के साथ फ़िल्म शूटिंग होती रही है। इन विशेष महिलाओं का प्रवेश-वर्जित केवल 1990 के बाद ही लगाया गया जब 1990 में एस महेन्द्रनाथ की दायर याचिका पर 1991 में केरल उच्च न्यायालय ने सभी महिलाओं और 10 से 15 साल की लड़कियों के प्रवेश पर भी रोक लगा दी। ऐसे में यह बातसाफ हो जाती है कि यह कोई सदियों पुरानी परम्परा नहीं है जिसकी रट लगाकरआरएसएस और बीजेपी अपनी राजनीति कर रहे हैं। इसके अलावा अगर यह सदियों पुरानी परम्परा भी होती तो भी आज ऐसी सड़ी गली परम्पराओं की सही जगह कूड़ेदान ही हो सकती है।

धार्मिक मामलों में स्त्रियों के साथ भेदभाव कोई नयी बात नहीं है, सभी प्रमुख धर्मों ने स्त्रियों को दोयम दर्जे का माना है। मनुस्मृति से लेकर तुलसीदास तक के लेखन में जातिवादी और पितृसत्तात्मक ज़हर मौजूद रहा है। यह मामला इतने आश्चर्य की बात भी नहीं है क्योंकि इस देश में ब्राह्मणवादियों ने हजारों सालों से शूद्रों का मन्दिर में प्रवेश वर्जित रखा है जो आज भी देश के कुछ हिस्सों में देखने को मिल सकता है। फिलहाल सबरीमाला इकलौता मन्दिर नहीं है जहाँ स्त्रियों के साथ दोयम दर्जे का व्यवहार किया जाता है, हिन्दू और मुसलमान दोनों ही धर्मों में ऐसी बहुत सारी धार्मिक विधियाँ और नियम है जिनके तहत महिलाओं को बहुत सारे कर्मकाण्ड करने से रोका जाता है और उन पर पुरुष प्रधानता थोपी जाती है। अगर प्रवेश पर ही चर्चा करें तो सबरीमाला के अलावा और भी ऐसे कई धार्मिक स्थल है जहाँ उनका जाना वर्जित है। उनमें से कुछ हैं- पुष्कर का कार्तिकेय मन्दिर, असम का पटबौसीसत्र मन्दिर, तिरुवनन्तपुरम का पद्मनाभ स्वामी मन्दिर के मुख्य भाग में महिलाओं के जाने की मनाही, असम के कामाख्या मन्दिर में मासिक धर्म के दौरान महिलाओं के प्रवेश पर रोक, महाराष्ट्र के शनि शिंगणापुर मन्दिर 2016 के पहले महिलाओं के प्रवेश पर रोक आदि। ऐसे ही कुछ मस्जिद और दरगाह भी हैं जहाँ महिलाएँ नहीं जा सकती जैसे कि दिल्ली की निजामुद्दीन दरगाह, श्रीनगर की हज़रतबल दरगाह आदि। ऐसे ज्यादातर मन्दिरों में प्रवेश न देने का मुख्य कारण एक ही दिया जाता है कि मासिकधर्म में महिलाएँ अशुद्ध हो जाती हैं। यह मान्यता अपने आप में कितनी अवैज्ञानिक, अप्राकृतिक और घोर स्त्री-विरोधी है यह समझा जा सकता है। ऐसे में आज महिलाओं को यह तय करने की जरूरत है कि क्या एक धार्मिक स्थल में उनको प्रवेश मिल जाने मात्र से इस समाज में उनको बराबरी मिल सकती है?

ऐसी सैकड़ों स्त्रीविरोधी मान्यताओं से अलग-अलग लड़ने की बजाय इनका पोषण करने वाली सामाजिक-आर्थिक व्यवस्था को समझना बेहद जरूरी है। जिस सामाजिक व्यवस्था और जिन मान्यताओं ने स्त्रियों को दोयम दर्जे का बनाकर रखा, उनको अपवित्र

समझा, उनको पुरुषों के अधीन समझा, मुक्ति के मार्ग में बाधा समझा, घूँघट में रहने योग्य समझा, चूल्हे-चौकी की सीमाओं में बाँधे रखा उससे कुछ दया याचना करने या उसके चरणों मे स्थान पाने की विनती करने की बजाय उन मान्यताओं और पितृसत्तात्मक सामाजिक व्यवस्था को तोड़ने की लड़ाई लड़ना ज्यादा बेहतर होगा। अगर हमें इन कुरीतियों से मुक्ति चाहिए तो इसकी जड़ को ही खोदकर आगे बढ़ने से कम कोई भी माँग काफ़ी नहीं होगी। इस सामाजिक आर्थिक व्यवस्था के अन्दर लोगों की दोयम जीवन परिस्थिति ही धर्म का आधार है।

### सबरीमाला के जरिये भाजपा का राजनीतिक दाँव

सबरीमाला मन्दिर में महिलाओं के प्रवेश का विरोध करने के दौरान कई महिला पत्रकारों को पीटने के बाद विश्व हिन्दू परिषद के सन्त ने कहा कि सबरीमाला दक्षिण का अयोध्या साबित होगा। और भाजपा इस में कोई कसर नहीं छोड़ रही है। यह पूरा प्रकरण बीजेपी और आरएसएस का केरल में (जहाँ सी.पी.एम. और कांग्रेस का ही आधार है) अपने को धर्मरक्षक और धार्मिक परम्पराओं के रक्षक के रूप में स्थापित कर अपनी पहुँच बनाने की कोशिश है। आज इनके समर्थक कहते हैं कि "अगर कोई महिला मन्दिर में प्रवेश करेगी तो उसको दो फाड़ में चीर देंगे, एक फाड़ दिल्ली में फेकेंगे और दूसरा मुख्यमंत्री दफ्तर के सामने"। दरअसल बीजेपी इस समय खुद को काफी असुरक्षित महसूस कर रहीहै। देश के अलग-अलग हिस्सों में किसान मज़दूर सड़कों पर उतर रहे हैं, महँगाई पर सरकार की किरकिरी हो रही है, बेरोजगारी चरम पर है, बैंक डूब रहे हैं, उत्पादन उद्योग कम क्षमता पर काम कर रहे हैं, रफाल की हड्डी न निगलते बन रही न उगलते, ऐसे में बीजेपी और संघ कुछ ऐसे मुद्दों को हवा देने की कोशिश कर रहे हैं जो एक तरफ लोगों का ध्यान इन जरूरी मुद्दों से भटकाये तथा दूसरी तरफ इनके पक्ष में राजनीतिक ध्रुवीकरण भी करें। विजयदशमी पर संघ प्रमुख के राम मन्दिर के ऊपर बयान और सबरीमाला में संघ बीजेपी के बदले तेवर को इसी रोशनी में समझा जा सकता है। इसमें यह बात भी ध्यान देने वाली है कि सिर्फ बीजेपी ही नहीं बल्कि कांग्रेस भी महिलाओं के प्रवेश के विरुद्ध खड़ी है और वहाँ हिंसक प्रदर्शन करने वाले लोगों के साथ है। कांग्रेस ऐसा इसलिए कर रही है क्योंकि सत्ता में काबिज लेफ्ट पार्टी के बाद सबसे प्रमुख पार्टी कांग्रेस ही है और केरल में अबतक दक्षिणपन्थी राजनीति का कार्यभार उसने ही उठाया है, ऐसे में केरल में घुसने की कोशिश कर रही बीजेपी से अपना आधार बचाने के लिए कांग्रेस वही अवस्थिति ले रही है। ऐसे में यह बात ठीक से समझ लेनी चाहिए कि इन चुनावी पार्टियों को महिला मुक्ति या दलित मुक्ति से कोई लेना देना ही नहीं है इनके लिए सत्ता प्राप्ति के लिए जो फायदे मन्दलगता है वही अवस्थिति अपनाते हैं और फायदे के लिए उसको बदल भी लेते हैं।

बीजेपी-आर.एस.एस. की "यत्र नार्यस्त पूज्यन्ते रमन्ते तत्र देवता" संस्कृति की मिसाल ये लोग खुद ही बीच-बीच मे देते रहते हैं। ये वही लोग हैं जो बलात्कारियों के समर्थन में रैलियाँ निकालते रहे हैं, जिनके नेता सेक्स-स्कैंडलों में पकड़े जाते रहे हैं, जिनके नेता यह बयान देते हैं कि "औरतों को आज़ादी चाहिए तो वे नंगा घूमें" , जिनके समर्थक यह कहते हैं कि "अगर कोई औरत सबरीमाला मन्दिर में गयी तो उसको दो फाड़ चीर देंगे..", जिनके नेता कहते हैं कि "महिलाएँ स्वतंत्रता के काबिल नहीं हैं"! संघियों और भाजपा समर्थकों द्वारा सबरीमाला मुद्दे पर रिपोर्टिंग करने पहुँचीं महिला पत्रकारों को मारा-पीटा जाता है, ये वही पार्टी है जो दिल्ली में जनवादी अधिकारों के लिए विरोध प्रदर्शन करने वाली लड़कियों के खिलाफ पुरुष पुलिस भेजकर उनके साथ अभद्रता करवाती है। ऐसे सैकड़ों उदाहरण इनकी महिलाओं के प्रति घिनौनी सोच को उजागर करते हैं। ये ब्राह्मणवादी और पूँजीवादी शासक वर्ग के सबसे बड़े प्रतिनिधि हैं जिनके अन्दर पितृसत्ता का मवाद भरा हुआ है। इससे पहले कि ये मवाद रिस-रिस कर महामारी बन जाये महिलाओं को इन्हें ठिकाने लगाने की जरूरत है। हमें समझना होगा कि महिला मुक्ति का रास्ता पिंजरे में बदलाव करके नहीं बल्कि उस पिंजरे को तोड़कर आएगा।

●

## मीटू मुहिम: एक समालोचना...

(पेज-8 से जारी)

के सीमान्तों का अतिक्रमण करके जनवादी अधिकार का एक जुझारू आन्दोलन बन गया जिसे शासन-प्रशासन के दमन तक का सामना करना पड़ा। यह जनवादी अधिकार और सुधार का जुझारू आन्दोलन था, जिसका पुरज़ोर समर्थन लाज़िमी तौर पर किया ही जाना था। यह 'मी टू' के प्रतीकवाद से एकदम भिन्न था।

अन्त में, यह बात विशेष तौर पर उल्लेखनीय है कि बुर्जुआ मीडिया और सोशल मीडिया (जिसपर वाम के नाम पर लिबरल और सामाजिक जनवादी छाये हुए हैं) जब 'मी टू' जैसी किसी मुहिम के आकार और महत्व को वास्तविकता से कई गुना अधिक बढ़ाकर आच्छादनकारी रूप में पेश करते हैं तो प्रकारान्तर से स्त्री मुक्ति के सभी पक्षों को, सभी सरोकारों को और सभी मुद्दों को यौनिकता और यौन मुक्ति में रिड्यूस कर देते हैं। यही छल-प्रपंच पचास और साठ के दशक में आधुनिकतावादी बुर्जुआ नारीवाद की विविध उपधाराओं ने विविध रूपों में किया था और आज उत्तर-आधुनिकतावादी बुर्जुआ नारीवाद की विविध सरणियाँ भी विविध रूपों में यही कर रही हैं।

स्मृति शेष

# विष्णु खरे : अपनी राह खुद बनाने वाला विद्रोही प्रयोगधर्मी कवि

●कात्यायनी

हिन्दी कविता की दुनिया में अपनी एक अलग राह बनाने वाले अप्रतिम विद्रोही कवि, रुढ़िभंजक आलोचक, सिने-कला के श्रेष्ठ मर्मज्ञ, शास्त्रीय और फिल्म संगीत के गहरे जानकार, बेजोड़ अनुवादक और हिन्दी पत्रकारिता को नयी समृद्धि देने वाले विष्णु खरे का निधन हिन्दी भाषी समाज के लिए एक ऐसी क्षति है, जिसकी पूर्ति शायद लम्बे समय तक न हो सके। यूँ तो जीवन अपनी गति से निरन्तर आगे बढ़ता रहता है, लेकिन कई बार कुछ लोगों का जाना एक ऐसा रिक्त स्थान छोड़ जाता है, जिसका अहसास लम्बे समय तक होता रहता है। विष्णु खरे ऐसे ही विरल व्यक्तित्वों में से एक थे।

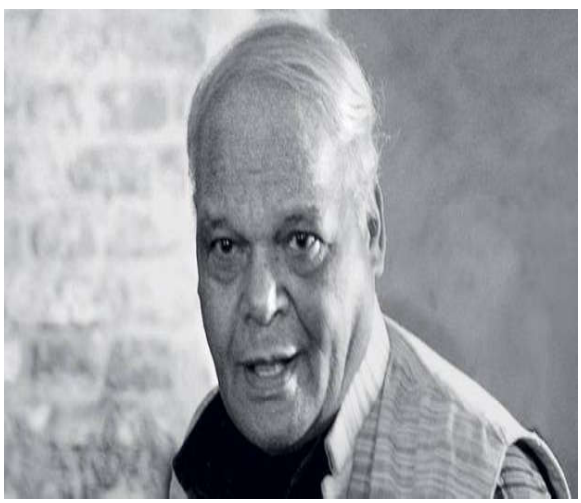

9 फरवरी 1940 को छिंदवाड़ा (म.प्र.) में जन्मे विष्णु खरे ने मस्तिष्काघात के बाद विगत 19 सितम्बर, 2018 को दिल्ली में निधन से पहले एक लम्बा सर्जनात्मक और प्रयोग-संकुल जीवन बिताया, फिर भी वो लगातार इतना कुछ नया कर रहे थे कि सहज ही ये सोचने को जी चाहता है कि अभी उन्हें जाना नहीं था, अभी तो उन्हें काफी कुछ करना था।

उनका सर्जनात्मक जीवन आधे सदी से भी अधिक लम्बा रहा। कविताएँ वे 1956 से, यानी 16 वर्ष की आयु से लिखने लगे थे। 1960 में टी.एस.एलियट की कविताओं का उनका अनुवाद 'मरु प्रदेश और अन्य कविताएँ' नाम से प्रकाशित हुआ। अनुवाद का काम उन्होंने इसके बाद जीवनपर्यन्त जारी रखा और गोएठे, ग्युंअटर ग्रास, अत्तिला योजेक, मिक्लोइश राद्नोति, चेस्वाव मिवोश, विस्वावा शिम्बोर्स्का आदि विश्व कविता के कई बड़े हस्ताक्षरों के साथ ही एस्तोतनिया और फिनलैण्ड के लोक महाकाव्यों का हिन्दी में उत्कृष्ट अनुवाद किया। यह उनका बहुत बड़ा काम था और हिन्दी जगत को महत्वपूर्ण अवदान था। हिन्दी कविता को अनुवादों के जरिए अंग्रेजी, जर्मन और डच भाषाओं तक पहुँचाने का काम भी वह लगातार करते रहे और यह भी उनका एक अविस्मरणीय योगदान था।

विष्णु खरे ने अपना पहला कविता संकलन 'एक ग़ैर-रूमानी समय में' 1970 में स्वयं छपाया, लेकिन इसकी ज्यादातर कविताएँ अशोक वाजपेयी सम्पादित 'पहचान' श्रृंखला की पहली पुस्तिका 'विष्णु खरे की कविताएँ' में ले लिए जाने के कारण उन्होंने उसे प्रकाशित नहीं किया। इसके बाद उनका तीसरा संकलन 'खुद अपनी आँख से' 1978 में, चौथा 'सबकी आवाज़ के पर्दे में' 1994 में, पाँचवा 'पिछला बाकी'1998 में , छठवाँ 'काल और अवधि के दरमियान' 2003 में, सातवाँ 'लालटेन जलाना' 2008 में, आठवाँ 'पाठान्तार' 2008 में और अन्तिम संकलन 'और अन्य कविताएँ' 2017 में प्रकाशित हुए। आलोचना की उनकी एकमात्र पुस्तक 'आलोचना की पहली किताब' 1983 में प्रकाशित हुई। इन सबके अतिरिक्त विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं और वेबसाइट्स के लिए उन्होंने सैकड़ों की संख्या में साहित्यालोचना, फिल्म, राजनीति आदि पर लेख लिखे। विष्णु खरे जीवनपर्यन्त कविता और गद्य में एक रूखी और बेलागलपेट वस्तुपरकता के साथ अपनी बात करते रहे, तमाम पाखण्डों को निरावृत्त करते रहे तथा देश और समाज के वर्तमान और भविष्य के प्रति फिक्रमंद बने रहे। आजीवन वह अपनी साफगोई की कीमत चुकाते रहे और अपने जीवन तथा कविता में बेचैनियों और तल्खियों में जीते रहे।

कमोबेश 1960 के दशक के अन्त तक विष्णु खरे की कविता अपनी राह खोजने और बनाने की प्रक्रिया में थी। ग़ौरतलब है कि इस दौर में भी उनकी कविता नवगीत आन्दोलन के रूमानी वायवीय घटाटोप से या अकविता के निम्न- बुर्जुआ अराजक विद्रोह के प्रभावों से मुक्त रही। विशेषकर 1970 के दशक में उन्होंने अपनी वस्तुपरक आख्यान की विशिष्ट गद्यात्मक शैली की कविताओं से एकदम अलहदा और नयी लकीर खींचने की शुरुआत की। हिन्दी कविता और कवियों की उत्तरवर्ती पीढ़ी पर इसका व्यापक और गहरा प्रभाव पड़ा। हिन्दी कविता उसके बाद वैसी नहीं रह गयी जैसी वह पहले थी। छन्द -मुक्ति के बाद हिन्दी कविता ने विष्णु खरे की कविताई में एक नयी मुक्ति पायी और जीवन की संश्लिष्ट गद्यात्मकता को पकड़ने की, ज्याादा गहराई में उतर गयी जीवन के अन्तर्लय को पकड़ने की शक्ति अर्जित की। यह कहना जरा भी अतिश्योक्ति नहीं होगी कि निराला और मुक्तिबोध के बाद हिन्दी कविता की भाषा और शिल्प को विष्णु खरे ने सबसे अधिक प्रभावित किया है, नागार्जुन और रघुवीर सहाय से भी अधिक। कुँवर नारायण ने अपने एक लेख में ठीक ही लिखा था कि विष्णु खरे की कविता कविता के तमाम प्रचलित नियमों और शिल्पों को लाँघकर लिखी गयी है। मंगलेश डबराल के अनुसार, ''उनके पाँच संग्रहों में फैली हुई कविता इस बात का दस्तावेज है कि एक समर्थ कवि कितनी बेचैनी के साथ समकालीन जीवन और यथार्थ की चीरफाड़ करता है और किस तरह एक शुष्क और ठोस गद्य में गहरे इंसानी जज़्बे को पैदा करता है।''

लेकिन इतना कहने मात्र से विष्णु खरे की कविता की 'शुष्क', ठोस गद्यात्मकता का रहस्य पूरी तरह से उद्घाटित नहीं होता। उनकी कविता की गद्यात्मकता का, उसके ब्योरों और तफ़सीलों का मूल रहस्य उनके काव्य प्रयोजन में ढूँढ़ा जाना चाहिए। दरअसल विष्णु खरे की कविता अन्तर्वस्तु और भाषिक संरचना की दृष्टि से एक निर्माणाधीन बुर्जुआ समाज की ऐसी नागरिक कविता है जो मानवद्वेषी परिवेश और सामाजिक व्यक्तित्व के विघटन के मूल कारणों को समझने के लिए तर्क करती है, बहस करती है और चिन्तन करती है। उनकी कविता आधुनिकता के प्रोजेक्ट पर (आधुनिकतावाद नहीं) अपने मौलिक ढंग से काम करती है। वर्तमान विभीषिकाओं से टकराते हुए, रूमानी ढंग से, गुजरे हुए समय की लोकतात्विक रागात्मकता का शरण्य बनाने की प्रवृत्ति से उत्तरवर्ती पीढ़ी के कई वामपन्थी कवियों की कविता भी पूरी तरह से मुक्त नहीं हो सकी है। लेकिन विष्णु खरे की कविताई में यह लिसलिसापन-चिटचिटापन हमें कहीं देखने को नहीं मिलता। एक संक्रमणशील बुर्जुआ समाज के तरल वस्तुगत यथार्थ को पकड़ने और बाँधने की कोशिश करते हुए उनकी कविता साहसिक प्रयोगशीलता के साथ गद्यात्मक आख्यानात्मकता की विशिष्ट शैली का आविष्कार करती है और हिन्दी कविता के क्षितिज को अनन्य ढंग से विस्तारित करती है।

विष्णु खरे की कविता जीवन में किसी भी चीज़ को रहस्यात्मक बनाने का विरोध करती है, हर प्रकार के फेटिशिज़्म का विरोध करती है। दूसरी ओर, वह उन चीज़ों की भी वस्तुगत सत्ता को स्वीकार करती है, जो अपनी प्रकृति से ही अमूर्त या पारभासी है, या पूर्णत: प्रेक्षणीय नहीं है। उनकी कविता चन्द शब्दों से कोई बिम्ब नहीं रचती, बल्कि तफ़सीलों के द्वारा एक पूरा बिम्ब–संसार उपस्थित करती है। यह अभिधा की काव्यात्मक शक्ति और अर्थसमृद्धि की कविता है, जो मितकथन को कविता की शक्ति मानने की प्रचलित धारणा को तोड़ती हुई शब्द बहुलता और वर्णन के विस्तार द्वारा एक प्रभाव-वितान रचती है, एक भाषिक स्पेस क्रिएट करती है, लेकिन वहाँ रंचमात्र भी भाव-स्फीति या अर्थ-स्खलन या प्रयोजन-विचलन नहीं होता। विष्णु खरे अपने समकालीन रघुवीर सहाय, कुँवर नारायण, केदार नाथ सिंह आदि बड़े कवियों से अलग ढंग से अपने समय और समाज की तमाम तफ़सीलों को एक किस्म की निरुद्विग्न वस्तुपरकता के साथ 'इंटेस' ढंग से अपनी कविता में प्रस्तुत करते हैं। उनकी कविता में कहीं गहन विक्षोभ के रूप में तो कहीं आभासी ''तटस्थता'' के रूप में एक नैतिक विकलता मौजूद रहती है। साथ ही वहाँ विवेक को सक्रिय बनाने वाली प्रश्नाकुलता और सर्जनात्मक तनाव भी मौजूद रहता है।

आज जब विष्णु खरे हमारे बीच नहीं हैं, तो यह बात और अधिक विश्वासपूर्वक कही जा सकती है कि इस अंधकारपूर्ण, आततायी शताब्दी के वर्ष जैसे-जैसे बीतते जायेंगे, विष्णु खरे की कविता हमारे समय के आम नागरिक की जिजीविषा, युयुत्सा, द्वंद्व और नैतिक विकलता की कविता के रूप में ज्यादा से ज्यादा महत्व अर्जित करती जायेगी।

***अब से बीस साल बाद तुम उन चीज़ों को लेकर अधिक मायूस होगे जो तुमने नहीं किये बनिस्पत उन चीज़ों के, जो तुमने किये। इसलिए, जहाज़ की रस्सियाँ खोल दो। पाल चढ़ाकर सुरक्षित बंदरगाह से दूर निकल जाओ। तिजारती हवाओं को अपने बादबानों में गिरफ़्तार कर लो। खोजी यात्राएँ करो। सपने देखो। अन्वेषण करो।***

***-मार्क ट्वेन***

**ढोल की पोल**

# ब्लूमबर्ग की रिपोर्ट के अनुसार भारत बेरोजगारी दर में एशिया में शीर्ष पर

●आदित्य

इसी साल फरवरी महीने में भारत के सबसे बड़े सार्वजनिक क्षेत्र रेलवे द्वारा 89,409 पदों के लिए रिक्तियाँ निकाली गयीं, जिसके लिए 2.8 करोड़ से भी अधिक आवेदन प्राप्त किये गये। मतलब हर पद के लिए औसतन 311 लोगों के बीच मुकाबला होगा। आवेदन भरने वालों में मैट्रिक पास से लेकर पी.एच.डी. डिग्री धारक तक लोग मौजूद थे। आवेदकों की उम्र 18 साल से लेकर 35 साल के बीच है, अर्थात् एक पूर्ण युवा और नौजवान आबादी।

उपरोक्त संख्या अपने आप में यह बताने के लिए काफी है कि भारत में बेरोजगारी का आलम क्या है। यह सरकार द्वारा किये गये हर उस दावे को झुठलाने के लिए काफी है जिसमें वह दावा करती है कि उसने देश में रोजगार पैदा किया है। साथ ही यह सरकार की मेक इन इंडिया और स्किल इंडिया जैसी योजनाओं की पोल भी खोल कर रख देती है। यह कोई ऐसी पहली घटना नहीं है। इससे पहले भी उत्तर प्रदेश में चपरासी के 315 पदों के लिए 23 लाख आवेदन भरे गये थे, वहीं पश्चिम बंगाल में भी चपरासी और गार्ड की नौकरी की लिए 25 लाख लोगों ने आवेदन भरा था। दोनों ही जगह स्नातक, स्नातकोत्तर तथा पीएचडी डिग्री धारक लोग भी उस भीड़ में मौजूद थे। ऐसे तमाम और भी कई उदाहरण हैं जो देश में बेरोजगारी की तस्वीर खुलेआम बयाँ करते हैं।

अब आते हैं पिछले साल ब्लूमबर्ग द्वारा जारी किये गये रिपोर्ट के आकड़ों पर। ब्लूमबर्ग की रिपोर्ट के अनुसार भारत सम्पूर्ण एशिया में अव्वल है, पर बेरोजगारी में! जी हाँ, पूरे एशिया में भारत की बेरोजगारी दर, जोकि 8% है, सबसे अधिक है। भारत से कई छोटे देश ( न सिर्फ आकार में, बल्कि अर्थव्यवस्था में भी), जैसे थाईलैण्ड, दक्षिण कोरिया, इण्डोनेशिया आदि की भी हालत कहीं बेहतर है। ब्लूमबर्ग एक अमेरिकन, निजी तौर पर आयोजित वित्तीय, सॉफ्टवेयर, डेटा और मीडिया कम्पनी है जो दुनिया भर में व्यापार, बाजार, समाचार, डाटा और विश्लेषण प्रदान करती है।

ब्लूमबर्ग की ही एक रिपोर्ट के अनुसार, टीम-लीज़ सर्विसेज़ लिमिटेड, जो देश की सबसे बड़ी भारतीय कम्पनियों में से एक है, ने बताया कि आने वाले दिनों में निर्माण क्षेत्र में 30-40% तक नौकरियों में कमी आने वाली है। इतना ही नहीं, मोदी सरकार की नोटबन्दी लागू होने के बाद से नौकरियों के अवसरों में लगातार एक अप्रत्याशित कमी आयी है और जी.एस.टी. लागू होने तक यह पिछले 12 सालों में अपने सबसे निचले स्तर पर जा पहुँची है।

रिपोर्ट में आगे कहा गया है कि निर्माण क्षेत्र में 2015 के बाद से मजदूरी में भी लगातार गिरावट आयी है। मतलब साफ़ है, मजदूरों की मजदूरी का घटना यह दर्शाता है कि संघ संचालित भाजपा के शासन में मजदूरों का शोषण किस तरह लगातार बढ़ रहा है। एक तरफ जहाँ मजदूरों की नौकरियों को असुरक्षित बनाया जा रहा है, वहीं इसी असुरक्षा के बल पर उनकी मजदूरी में भी लगातार कटौती की जा रही है। मजदूरों के मन में हमेशा ये संशय बना रहता है कि अगर उन्होंने कुछ भी पूँजीवाद विरोधी काम किया तो उन्हें नौकरी से निकाला जा सकता है। ऐसे बेरोजगारों की कमी नहीं जो किसी भी मजदूरी पर अपना श्रम बेचने को तैयार रहते हैं। निजी मालिकों और संस्थानों के मुनाफ़ा कमाने की अन्धी हवस को मजदूरों के शोषण और सरकार द्वारा लगातार मजदूर विरोधी नीतियों द्वारा और बढ़ाया जा रहा है।

संयुक्त राष्ट्र संघ (यू.एन.ओ.) के संस्थान, आई.एल.ओ. (अन्तरराष्ट्रीय श्रम संगठन)ने 2017 में यह रिपोर्ट जारी किया था, जिसमे यह सीधे-सीधे कहा गया था की आर्थिक विकास के ट्रेंड्स रोजगार की जरूरतों को पूरा करने में पूरी तरह से असफल हो चुके हैं। यही नहीं इस रिपोर्ट में भविष्य के लिए भी खुले शब्दों में चेतावनी देते हुए आई.एल.ओ. ने कहा था कि वर्ष 2018 के अन्त तक न केवल बेतहाशा बेरोजगारी बढ़ेगी, बल्कि सामाजिक असमानता भी पहले से और ज्यादा भयानक रूप धारण कर लेगी।

आपको बताते चलें कि ये आँकड़े कभी भी पूरी स्थिति बयाँ नहीं कर पाते, जो कि इससे कहीं अधिक बदतर है। इन आँकड़ों का दायरा बहुत ही छोटा होता है, जिनमें कई छोटे शहर व गाँव होते ही नहीं, जहाँ बेरोजगारी का मंजर इससे भी वीभत्स होता है। साथ ही इसमें असंगठित क्षेत्रों में तथा ठेके पर काम करने वाले लोगों को भी शामिल नहीं किया जाता है, जिनके पास अधिकतर समय या तो काम नहीं होता, या फिर काम होने के बावजूद भी इतनी कम मजदूरी होती है कि उनका गुजारा भी मुश्किल से ही हो पाता है।

2014 के चुनाव से पहले हर साल 2 करोड़ रोजगार देने का वादा करने वाली मोदी सरकार जब पूरी तरह से इस धरातल पर विफल हो गयी थी तो उसने पकौड़े तलने तक को रोजगार घोषित कर दिया। हद तो तब हो गयी जब इस बार के संसदीय सत्र में प्रधानमंत्री ने जबरदस्ती भाजपा की सरकार द्वारा रोजगार देने की बात को साबित करने के लिए ऑटो की खरीद और उसमें लग रहे पढ़े-लिखे युवाओं, जो काम न मिल पाने के कारण ऑटो चलाने पर मजबूर हैं, को रोजगार मिलने की बात कही। इसके लिए उन्होंने बाकायदा एक पूरा आँकड़ा पढ़ दिया कि पिछले एक साल में कितने नये ऑटो ख़रीदे गये हैं और भाजपा ने कितने युवाओं को रोजगार दिया है।

माननीय प्रधानमंत्री का ऑटो चलाने और पकौड़े तलने को रोजगार घोषित करना साफ़ तौर पर यह बताता है कि यह सरकार किसी भी क्षेत्र में रोजगार पैदा ही नहीं करना चाहती। अर्थात् ब्लूमबर्ग की रिपोर्ट में बेरोजगारी दर का बढ़ कर 8% आना और एशिया में सबसे अव्वल होना कोई आश्चर्य की बात नहीं है।

सरकार के ऐसे ढेरों पैंतरे सामने आयेंगे क्योंकि 2019 का चुनाव सर पर है। जब सरकार के पास ऐसे बयानों की कमी हो जाएगी ( वैसे देखा जाये तो मूर्खता-पूर्ण बयान की कोई सीमा नहीं होती पर इनसे और उम्मीद की ही नहीं जा सकती है), तो जाहिर है साम्प्रदायिकता व जातिवाद के हवाले फिर दिये जायेंगे ताकि असल मुद्दों, यानी बेरोजगारी, शिक्षा, स्वास्थ्य, भ्रष्टाचार इत्यादि, से आम जनता का ध्यान बँट जाये और जाति-धर्म के नाम पर वोटों का बँटवारा हो जाये। जब पूरा पूँजीपति वर्ग ( अम्बानी और अडानी जैसे लोग ) इससे मुनाफ़ा कमा रहा है और सरकार सुबह-शाम और दिन-रात एक-एक कर के इनकी चाकरी करने में लगी हुई है तो जाहिर है उनके पास लोगों को भटकाने और शोषण करने के लिए पर्याप्त मात्रा में साधन और संसाधन दोनों मौजूद हैं।

ऐसी स्थिति में यह साफ़ हो जाता है कि पूँजीवादी व्यवस्था में, जो सिर्फ और सिर्फ मुनाफे की हवस पर टिकी होती है, सभी को रोजगार देना सम्भव है ही नहीं। मजदूरों का शोषण करने के लिए, ताकि मुनाफ़ा लगातार बढ़ता रहे, उन्हें बेरोजगारों के फ़ौज की जरुरत हमेशा बनी रहती है जिसके जरिये मजदूरों को कम से कम मजदूरी पर रखा जा सके। पूँजीवादी व्यवस्था में प्रगतिशील से प्रगतिशील सरकार भी बेरोजगारी नहीं खत्म कर सकती है।

## बाज़ार के हाथों में उच्च शिक्षा को ....

**(पेज 22 से जारी)**

...निजी विश्वविद्यालय कुकुरमुत्ते की तरह खुलते रहे वहीं सरकारी विश्वविद्यालयों की हालत बद से बदतर होती रही। 2014 में प्रकाशित एक रिपोर्ट के अनुसार भारत में 677 विश्वविद्यालय है जिनके अन्तर्गत करीब 37,204 कॉलेज है। लेकिन वास्तविकता में इनमे से ज्यादातर सिर्फ डिग्री देने वाले संस्थान भर है। एक हालिया सर्वे के अनुसार सिर्फ 18 प्रतिशत इंजीनियरिंग स्नातक ही नौकरी कर पाने के लायक है वहीं केवल 5 प्रतिशत अन्य विषयों के स्नातक छात्र नौकरी करने के लायक है। देशभर के विश्वविद्यालयों में करीब 65000 शिक्षकों के पद खाली हैं। राज्य विश्वविद्यालय की बात छोड़ भी दें तो देश के सैंतालीस केन्द्रीय विश्वविद्यालयों में करीब 47 प्रतिशत शिक्षकों के पद खाली हैं। यहाँ तक की आईआईटी जैसे संस्थानों में भी करीब 40 प्रतिशत पद खाली हैं। ऐसे वक़्त में जब उच्च शिक्षा पर सरकारी खर्चे बढ़ाने की जरूरत है उस वक्त सरकार शिक्षा से विनिवेश की तैयारी कर रही है।

अब आप ही सोचिये अगर ये प्रस्तावित बदलाव संसद में पास हो गये तो यह कितना भयावह होगा। 12वीं पास करने वाली आबादी का केवल 7 प्रतिशत ही विश्वविद्यालयों की दहलीज़ तक पहुँच पाता है। इन तथाकथित सुधारों के बाद उच्च शिक्षा आम मेहनतकश आबादी की पहुँच से ही दूर हो जाएगी। अब एक उदाहरण लीजिये , बिहार के शिवहर जिला की औसत वार्षिक आय 7000 रु है, बिहार के अधिकतर जिलों की औसत आय 15000 रु से कम ही है। कमोबेश ऐसा ही हाल उड़ीसा और झारखंड जैसे राज्यों का भी है। इन इलाकों से आने वाले छात्रों के लिए यह तथाकथित सुधार विनाशकारी होगा। इन सुधारों के कारण होगा यह कि आर्थिक रूप से पिछड़े इलाकों से आने वाले छात्र उच्च शिक्षा तक नहीं पहुँचेंगे और बहुत मुमकिन है कि वे असंगठित क्षेत्र में काम करने वाले मजदूर बनेंगे, इस प्रकार ऐसे पिछड़े इलाके उद्योगों के लिए मजदूरों की सप्लाई चेन बन जायेंगे। भारत के छात्र-युवा आन्दोलन के लिए अब यह आवश्यक है कि इसके लिए संगठित हो क्योंकि अब बड़ी छात्र आबादी के लिए अस्तित्व का संकट ही पैदा हो चुका है।

विश्व पटल पर

# जमाल ख़शोज़ी की मौत पर साम्राज्यवादियों के आँसू परन्तु यमन के नरसंहार पर चुप्पी!

●सनी

सऊदी अरब के खुफिया एजेंटों ने सऊदी अरब मूल के अमरीकन पत्रकार जमाल ख़शोजी को तुर्की के सऊदी अरब के कॉन्सुलेट में मार दिया और उसके शरीर के टुकड़े-टुकड़े कर दरिया में बहा दिया। इसपर पश्चिमी जगत की मुख्यधारा मीडिया हाय तौबा करने में लगा हुआ है। यह बात समझ लेनी होगी कि ख़शोजी कोई जनपक्षधर पत्रकार नहीं था। कुछ समय पहले तक वह सऊदी अरब की सत्ता के घोर प्रतिक्रियावादी विचारों का समर्थक था। अमरीका में रहते हुए उसने अमरीका के 'प्रगतिशील' विचारों का प्रचार करना शुरू किया और पश्चिमी देशों के सरीखे 'जनवाद' को सऊदी अरब में लागू करने की बात कह रहा था। वह सऊदी अरब की राजशाही को मध्यकालीन रिवाजों को त्यागने की नसीहत 'वाशिंगटन पोस्ट' के जरिये दे रहा था। हालाँकि उसे इसलिए मारा गया क्योंकि वह बहुत कुछ जानता था और सऊदी अरब की सत्ता का पिट्ठू न रहकर राजशाही की मन्द आलोचना कर रहा था। वह दरबार के अन्दर ना होते हुए भी दरबार के बारे में बहुत कुछ जानता था। गौरतलब है कि यही जमाल ख़शोजी सऊदी अरब के नये खूनी सलमान को ब्लैक पैंथर फिल्म के मुख्य किरदार ट'चल्ला बनने की राय दे रहा था। शायद जवान राजकुमार ने इसे ज़्यादा ही सच मान लिया और बिलकुल फिल्म की तरह ही ख़शोजी का ही कत्ल करवा दिया (फिल्म में ट'चल्ला सुपरहीरो ब्लेक पैंथर बनकर दुश्मनों का सफाया करता है)। ख़शोजी का सफाया करने का मौका सऊदी अरब की खुफिया एजेंसी को तब मिला जब खशोज़ी तुर्की में सऊदी अरब के कॉन्सुलेट में किसी काम से आया। इस घटना पर पूरी दुनिया भर में काफी शोर मचाया जा रहा है और तमाम लोग इसे सऊदी अरब के राजतंत्र की बुराई के रूप में पेश कर रहे हैं कि उन्हें इस किस्म से नहीं मारा जाना चाहिए था। अमरीका से लेकर ब्रिटेन तक नसीहतें दे रहे हैं कि ऐसे कत्ल नहीं करवाया जाना चाहिए था! (अधिक 'शिष्ट' तरीके से करना चाहिए था!) सऊदी अरब ने भी बहुत छिःथू होने के बाद स्वीकार किया कि क़त्ल हुआ है और वे इसके लिए कानूनी कार्यवाही करवाने के लिए तैयार हैं परन्तु सत्ता के महल के भीतर इस कीड़े की मौत पर तो ये साम्राज्यवादी हायतौबा मचा रहे है पर सऊदी अरब से सटे एक पूरे देश यमन को खून में डूबा देने के खिलाफ ये मुरदाखोर चुपाई मारे बैठे हैं क्योंकि जिन हथियारों से सऊदी अरब यमन में मासूमों का कत्ल कर रहा है वे अमरीका, ब्रिटेन, फ्रांस और कनाडा ने ही बेचे हैं। यमन में जनता के खून की नदी के किनारे खड़े होकर सभी साम्राज्यवादी सऊदी अरब को कत्ल करने का शिष्टाचार सिखा रहे हैं। लीबिया में गद्दाफ़ी को मारते वक्त साम्राज्यवादियों ने इस कत्ल के शिष्टाचार का परिचय दिया था।

यमन में पिछले 3-4 सालों में सऊदी अरब ने मौत का ताण्डव किया है। अरब जनउभार के जरिये क्रान्ति की ड्रेस रिहर्सल कर रही जनता यमन को अपने संघर्षों से गढ़ रही थी परन्तु उसे सऊदी अरब ने युद्ध थोपकर थाम दिया। यह इसलिए है ताकि यमन में एक ऐसी सरकार रहे जो अमरीका-इस्राइल-सऊदी अरब की धुरी से अलग न हटे। पर सऊदी अरब दुनिया की तीसरी सबसे बड़ी सेना और आधुनिक हथियारों के

बावजूद भी यमन को हरा नहीं पाया है। कायर और डरपोक राजकुमार सलमान यमन की जनता के आगे बौना साबित हो रहा है जैसे अरब की जनता के शौर्य के आगे तमाम साम्राज्यवादी कुत्ते साबित हुए हैं। यमन की जनता मर रही है, उसे लगभग मध्य काल में पहुँचा दिया गया है परन्तु इससे यमन हारेगा नहीं बल्कि यह आने वाले संघर्षों की तैयारी साबित होगा। युद्ध में हुई मौतों का हिसाब सऊदी अरब के शासकों को देना ही होगा।

## यमन में सत्ता के संघर्ष का लंबा इतिहास

यह यमन का पहला संघर्ष नहीं बल्कि इसके उथल-पुथल भरे इतिहास का नतीजा है। पूरे अरब जगत में चल रहे राष्ट्रीय आन्दोलनों की लहर में यमन भी उथल-पुथल से गुज़र रहा था। 1967 में यमन गृहयुद्ध के बाद दो हिस्से में बँट गया था। दक्षिणी यमन में संसदीय ढाँचे की गणतन्त्र की सरकार बनी तो दूसरे हिस्से में तानाशाही थी। दक्षिणी यमन जहाँ पर सामाजिक जनवादियों ने सरकार पर अपना नियंत्रण स्थापित किया और सोवियत रूस के साथ करीबी बनायी वहीं दूसरी सरकार खुलकर सऊदी अरब पर अन्दर तक निर्भर थी। 1990 आते-आते दोनों सरकार विलय कर गयी और दोनों देश एक देश में तब्दील हो गये। संयुक्त यमन में सलाह 1990 में गद्दी पर आसीन हुआ और वह 2011 तक सत्ता में रहा। इससे पहले 1978 से सलाह उत्तरी यमन पर शासन कर रहा था। यमन में कभी भी केन्द्रीकृत सत्ता की मौजूदगी नहीं थी। इस देश को सम्भालने वाला राज्य तंत्र बेहद बिखरा था। देश में तीन सेनाओं की मौजूदगी है जिसमें दो सेनाएँ निजी सेना की तरह ही काम करती हैं। एक तरफ सरकारी सेना है तो दूसरी सलाह के बेटों की सेना है तो वहीं तीसरी विपक्ष के नेता की भी अपनी सेना है। ये तीनों सेनाएँ ही यमन की मुख्य हथियारबन्द ताक़तें थी। दक्षिणी यमन में अधिकतर उपजाऊ ज़मीन व संसाधन की मौजूदगी का हवाला देकर दक्षिण यमन को अलग देश बनाने की माँग 2007 से ही ज़ोर उठा रही थी। अलकायदा का भी यमन में प्रभाव मौजूद है और 2011 से पहले से ही अलकायदा के कब्जे में कुछ इलाके थे। मौजूदा युद्ध में अरब जगत की ताकतों (यूएई) ने अलकायदा में भी निवेश किया और उन्हें आगे बढ़ाया है। उधर 2004 से बड़े स्तर पर फैलना शुरू हुए हौदी आन्दोलन ने भी हथियारबन्द होकर उत्तरी यमन से राजधानी सना की तरफ बढ़ना शुरू किया और 2011 के बाद से पैदा हुए राजनीतिक संकट का फायदा उठाकर 2011 में सत्ता छोड़ने को मजबूर हुए सलाह के जरिये 2015 में सत्ता तक पहुँच गये। इस तख्तापलट के कारण अबतक सऊदी अरब और अमरीका के हितों कि रक्षा करने वाली सरकार के बरक्स सऊदी अरब की खिलाफत करने वाली हौदी सरकार के सत्तासीन होने से अमरीका और सऊदी अरब के रणनीतिक व आर्थिक तौर पर फायदेमंद निवेश पर आँच आ सकती थी और इसके मद्देनजर सऊदी अरब ने यमन पर हमला कर दिया। सिर्फ सऊदी अरब ही नहीं अमरीका और अन्य पश्चिमी देशों ने भी बमवर्षा कर यमन को खून में डुबाया है।

2011 में अरब जनउभार की लपटें यमन तक पहुंची और यहाँ ये जंगल की आग में तब्दील हो गयी जिसके कारण सलाह को सत्ता छोड़नी पड़ी। इस संघर्ष में बेरोजगार नौजवान, छात्र, मजदूर शामिल थे। यह ट्यूनीशिया के बाद सबसे आक्रामक संघर्ष था जो 2015 तक चलता रहा और इस संघर्ष के कारण राजनीतिक धरातल पर एक तरल स्थिति पैदा हुई जिसका फायदा उठाकर 2015 में हौदी के लड़ाकों ने यमन की सरकार का तख़्ता पलट कर दिया और अपनी सरकार बनाई। इन्हें यमन की जनता के बड़े हिस्से का समर्थन प्राप्त था। परन्तु सऊदी अरब ने यमन पर युद्ध थोप दिया क्योंकि आज जिस आर्थिक संकट से दुनिया गुज़र रही है ऐसे में किसी भी आर्थिक सौदे पर खतरा सबसे बड़ा 'गुनाह' है और यह सैन्य हस्तक्षेप की तरफ ही बढ़ेगा। हालाँकि यमन सऊदी अरब के लिए वैसा ही साबित हो रहा है जैसे कि अमरीका के लिए वियतनाम साबित हुआ था। यमन में गृहयुद्ध ने एक ऐसा रुख लिया कि सत्ता में बैठी सरकार का हौदी विद्रोहियों ने तख्तापलट कर नयी सरकार बनाने की घोषणा की। इस दौरान यमन की तमाम सत्ता की दावेदार शक्तियों ने कई बार पलटी मारी। 2011 में अरब जनउभार के बाद सलाह को सत्ता छोड़नी पड़ी और उप-राष्ट्रपति हादी सरकार में बैठ गया जो कि सऊदी अरब के पक्ष का ही प्रतिनिधित्व कर रहा था। सलाह के बेटों की समर्थक सेना और विपक्ष के नेता की सेना और सरकार की सेना यमन के शासन के तंत्र हैं जो केंद्रीकृत नहीं हैं। 2015 में हौदी लड़ाके जब सना शहर के पास पहुंचे तो सलाह ने अपनी सेना को हौदी लड़ाकों का समर्थन किया जिसके बाद सरकार का तख्तापलट हुआ और हौदी लड़ाकों ने यमन की हादी सरकार को भंग कर दिया। साम्राज्यवादी ताकतों ने हौदी सरकार से भी बातचीत की पेशकश की परन्तु वे सऊदी अरब और अमरीका के खिलाफ बोल रहे थे और ईरान से अपनी करीबी जता रहे थे। सऊदी अरब ने यमन के हौदी द्वारा बातचीत के लिए न तैयार होने पर युद्ध की घोषणा कर दी परन्तु तीन साल बाद

भी सऊदी अरब अभी हौदी सरकार को नहीं हारा पाया है। यमन की अर्थव्यवस्था में लंबे समय से अनाज मुख्यतः आयात किया जाता रहा है। अमरीका द्वारा 'फूड एड पॉलिसी' शुरू करने के बाद से यमन अमरीका के अन्न पर निर्भर अरब जगत का सबसे गरीब देश है। युद्ध शुरू होने के बाद से हौदी सरकार के मातहत यमन में सभी आयात किये जाने वाले अनाज को रोक दिया गया है। इस कारण ही यमन में जनता भूख से मर रही है। इस युद्ध के दौरान जो युद्ध आर्थिकी पैदा हुई है इसे इस युद्ध को निरंतर जारी रखने में ही फायदा है। वहीं जमाल खशोग्गी का 'ब्लैक पैंथर' बुजदिल राजकुमार सलमान अपनी हैवानियत और अपनी नाकामियों को छिपाने के लिए स्कूलों, अस्पतालों, शादी के पण्डालों और घरों पर मिसाइल बरसाकर मौत का ताण्डव मचा रहा है। सऊदी अरब ने यमन के स्कूल, घर, मस्जिद, फ़ैक्टरी, शादी, स्कूलबस से लेकर तमाम जगहों पर हमला किया है जिसमें सरकारी आँकड़ें के मुताबिक करीब 10,000 लोग मारे गये हैं जबकि यह संख्या असल में 50000 से भी ऊपर जाती है। इन मौतों का पाँचवाँ भाग बच्चों का है। इस दौरान दो बार हैजा फैल चुका है जिसके कारण दस लाख से अधिक लोग बीमार हैं जिसमें करीब आधे बच्चे हैं।

## यमन: साम्राज्यवादी खंजरों से गोदा हुआ देश

दरअसल पूरा अरब जगत अमरीका-इस्राइल धुरी बनाम रूस-ईरान धुरी के बीच युद्धों का थिएटर बन चुका है। सीरिया से लेकर यमन में लोगों को बमों से उड़ाया जा रहा है। अरब जगत का भूदृश्य इन दृश्यों को जोड़ कर उभरता है: कहीं रासायनिक बमों से मांस पिघल रहा है तो कहीं ज़हरीली गैसों में बच्चे दम तोड़ रहे हैं तो कहीं स्नाईपार निहत्थे प्रदर्शनकारियों पर गोली चला रहे हैं। यमन पिछले 100 सालों में दुनिया के सबसे भयंकर अकाल को झेल रहा है। देश में भयंकर बेरोजगारी है। परन्तु दोनों साम्राज्यवादी धुरी अपने हितों का जमकर फायदा उठा रही है। इस युद्ध में कहीं भी रूस और ईरान सीधे मशगूल नहीं है। पर ईरान अप्रत्यक्ष रूप से हौदी विद्रोहियों की मदद कर रहा है। परन्तु अभी तक इसने कोई प्रत्यक्ष कदम नहीं उठाया है। यमन के लड़ाकुओं ने ही सऊदी अरब की सेना के नाकों चने चबवा दिये हैं। इन लड़ाकों ने साधारण रॉकेट लॉचर से सऊदी अरब के अरबों दिनार के टैंक उड़ा दिये हैं। सैन्य मोर्चे पर सऊदी अरब ने सीधे लड़ाई में मुँह की खाई है और वह बदहवासी में स्कूल बसों, नागरिकों, अस्पतालों पर मिसाइल बरसा रहा है।

एक लंबे समय से सऊदी अरब अमरीका इज़रायल धुरी की चाल यह रही है कि जिन देशों में 'जनवाद' स्थापित करना चाहते हैं उन्हें टुकड़ों में बाँट दो, वहाँ की सत्ता को अपनी नीतियों के पक्ष में झुकाओ, ऐड देकर या युद्ध थोपकर। यमन के युद्ध में अमरीका, ब्रिटेन, फ्रांस और कनाडा ने जमकर पैसा लगाया है। अमरीका का लठैत इज़रायल तो सऊदी अरब के साथ मासूमों पर बम बरसाता ही रहा है। अमरीका और ब्रिटेन की हथियार बनाने वाली कंपनियों ने सऊदी अरब को जमकर हथियार बेचे हैं। इतना सब कुछ करने के बावजूद भी ये साम्राज्यवादी डाकू इस कत्लेआम पर मौन हैं और इन देशों में सबसे अधिक हो-हल्ला जमाल खशोज़ी कि मौत पर उठ रहा है । तमाम राजनेता इसे भयानक बात बता रहे हैं । दरअसल इनके लिए इनकी जमात का एक आदमी मर जाना ही सबसे महत्वपूर्ण है। यह गिद्धों और परजीवियों की कौम यमन के खून पर ही पलती है। यमन की लड़ाई में पहला कदम मजदूरों की पार्टी का बनना होगा। अरब जन उभार के समय में जो स्वतःस्फूर्त आन्दोलन खड़ा हुआ है उससे सकारात्मक और नकारात्मक सीखकर ही यमन की जनता क्रान्तिकारी पार्टी के नेतृत्व में आगे बढ़ सकती है वरना तमाम कट्टर पन्थी ताक़तें जिन्हें कोई न कोई साम्राज्यवादी ताकत समर्थन देती है अपना पिट्ठू बनाकर संघर्ष को अन्धी गलियों में घुमाती रहेंगी।

●

***"साम्राज्यवादियों को गद्दी से उतारने के लिए भारत का एकमात्र हथियार श्रमिक क्रान्ति है। कोई और चीज इस उद्देश्य को पूरा नहीं कर सकती। सभी विचारों वाले राष्ट्रवादी एक उद्देश्य पर सहमत हैं कि साम्राज्यवादियों से आजादी हासिल हो। पर उन्हें यह समझाने की भी जरूरत है कि उनके आन्दोलन की चालक शक्ति विद्रोही जनता है और उसकी जुझारू कार्रवाईयों से ही सफलता हासिल होगी। चूँकि इसका सरल समाधान नहीं हो सकता, इसलिए स्वयं को छलकर वे उस ओर लपकते हैं, जिसे वे आरजी इलाज, लेकिन झटपट और प्रभावशाली मानते हैं — अर्थात् चन्द सैकड़े दृढ़ आदर्शवादी राष्ट्रवादियों के सशक्त विद्रोह के जरिए विदेशी शासन को पलटकर राज्य का समाजवादी रास्ते पर पुनर्गठन। उन्हें समय की वास्तविकता में झाँककर देखना चाहिए।***

***-भगतसिंह***

# तमाशा-ए-सीबीआई

●विवेक

*बज़ीचा-ए-अतफ़ाल है दुनिया मिरे आगे,*
*होता है शब-ए-रोज़ तमाशा मेरे आगे।*

*-ग़ालिब*

हालिया दिनों में सीबीआई के भीतर जो कुछ भी घटित हुआ उस पर ग़ालिब की ये पंक्तियाँ बिलकुल फिट बैठती हैं। भारतीय मीडिया का एक हिस्सा इस बात का शोक मना रहा था कि सीबीआई जैसी विश्वसनीय संस्थाएँ जनता का विश्वास खो रही हैं। यह कानून के शासन (रुल ऑफ़ लॉ) के लिए खतरा है। परन्तु यह घटनाक्रम वास्तव में वर्षों से चली उस प्रक्रिया की अभिव्यक्ति है जिसके तहत सीबीआई जैसी संस्थाओं को सत्तारूढ़ सरकारें अपने मातहत रखने की कोशिशे करती आई हैं। अतीत में भी जाँच व निगरानी संस्थाएँ सत्तारूढ़ पार्टी के सेवक की तरह व्यवहार करती रही हैं; चाहे वे ई.डी., आई.टी. विभाग, सीवीसी या सीबीआई जैसी संस्थाएँ ही क्यों न रही हो। इनका इस्तेमाल सत्तारूढ़ पार्टी अपने राजनीतिक हित साधने, अपने प्रतिद्वन्दियों पर काबू रखने के लिए करती रही हैं। ज्यादा दिन नहीं बीते जब सुप्रीम कोर्ट ने सीबीआई को लेकर यह टिप्पणी की थी कि सीबीआई पिंजड़े के तोते के समान है। परन्तु यहाँ मोदी सरकार इस 'तोते' को फासीवादी शासन तंत्र का एक अंग बनाने में तुली हुई है और उसकी सापेक्षिक स्वतत्रता को खत्म कर रही है। सीबीआई में विगत समय जो हाई वोल्टेज ड्रामा घटित हुआ उसके तार पीएमओ व राफेल सौदे से भी जुड़ते हैं। राफेल मामले में तो पहले ही सरकार की भद्द पिट चुकी है। लेकिन इस पूरे प्रकरण का अपना राजनीतिक महत्व भी है। पहला यह कि जिस "शुचिता" व "ईमानदारी" की दुहाई देती हुई भाजपा सत्तासीन हुई थी उसकी पोल पट्टी अब खुल चुकी है। दूसरा किसी भी फासीवादी उभार की प्रमुख लाक्षणिकता उसका अधिसत्तावादी चरित्र होता है, व्यवस्था के हरेक उपकरण को अपने एजेंडे को साधने के लिए पूरी तरह से अपने मातहत करने की महत्वाकांक्षा, जो इस पूरे प्रकरण में साफ़ झलकती है।

इस हाई वोल्टेज ड्रामे की शुरुआत तब हुई जब सीबीआई के स्पेशल डायरेक्टर राकेश अस्थाना पर माँस व्यापारी मोईन कुरैशी से सम्बन्धित केस में एक बिचौलिए के जरिये घूस लेने का आरोप लगा। मजेदार बात यह है कि स्पेशल डायरेक्टर अस्थाना ने अगस्त माह में कैबिनेट सेक्रेटरी को पत्र लिखकर सीबीआई निदेशक आलोक वर्मा पर कुरैशी से तीन करोड़ रुपये की रिश्वत लेने का आरोप लगाया था। 24 अक्टूबर की रात 2 बजे सरकार द्वारा आलोक वर्मा आनन-फानन में पद से हटाने का फैसला जारी किया गया। परन्तु, जिस तरह से मोदी सरकार ने यह फैसला लिया वह सन्देह ज़रुर पैदा करता है चूँकि अलोक वर्मा की सीबीआई निदेशक के तौर पर नियुक्ति सुप्रीम कोर्ट के चीफ जस्टिस व केंद्र सरकार से मिलकर बने कोलेजियम के तहत दो साल के लिए हुई है, इस कार्यकाल के खत्म होने के पहले उन्हें बर्खास्त करना प्रोटोकॉल के विरुद्ध है। फिलहाल केंद्र सरकार ने दोनों को छुट्टी पर भेज दिया है व इस पूरे प्रकरण की जाँच का जिम्मा सी.वी.सी को सौंप दिया गया है। हालाँकि सीवीसी इस मसले में खुद सन्देह के घेरे में है पर कौन सन्देह के घेरे में नहीं है! अस्थाना के अतिरिक्त अन्य उच्च अधिकारी; डीएसपी देवेन्द्र शर्मा, मनोज प्रसाद व सोमेश प्रसाद भी इस मामले की जद में हैं। हालाँकि बात सिर्फ इतने तक नहीं रुकी है, अस्थाना रिश्वत केस की जाँच कर रहे अधिकारी ए.के. बस्सी का तबादला अण्डमान कर दिया गया है जिनहोने इसके खिलाफ सुप्रीम कोर्ट का दरवाजा खटखटाया है, गौर करने वाली बात यह है कि बस्सी ने अस्थाना पर जाँच के दौरान सहयोग न करने का आरोप लगाया था। एक और चौंकाने वाले फैसले में केंद्र सरकार ने अन्तरिम सीबीआई निदेशक के तौर पर विवादास्पद पुलिस अधिकारी एम. नागेश्वर राव को नियुक्त किया है। ज़ाहिर है सरकार इस पूरे मामले की लीपा-पोती करने में जुटी हुई है, कुछ स्त्रोतों से यह बात भी आ रही है कि आलोक वर्मा केंद्र सरकार से नजदीकी रखने वाले कुछ उच्च अधिकारियों पर लगे भ्रष्टाचार की जाँच कर रहे थे। इसके साथ ही बात सामने निकल कर आ रही है कि प्रशांत भूषण, यशवंत सिन्हा व अरुण शौरी द्वारा राफेल सौदे पर सीबीआई को की गयी शिकायत का संज्ञान लेते हुए आलोक वर्मा राफेल सौदे की भी जाँच शुरू करने वाले थे व रक्षा मंत्रालय से इससे सम्बन्धित दस्तावेजो की माँग की थी। साफ़ है कि केंद्र सरकार राफेल सौदे की जाँच को अवरुद्ध करने

का प्रयास कर रही है।

## जब सैंय्याँ भये कोतवाल, अब डर कहे का!

अपने फासीवादी एजेंडों को अमल में लाने की कोशिश में भाजपा विभिन्न सरकारी संस्थाओं के प्रमुख पदों पर लगातार अपने करीबी लोगों को बिठाती रही है फिर चाहे वो विश्वविद्यालय, एफ़टीआईआई हो या सीबीएफसी हो। राकेश अस्थाना को सीबीआई का विशेष निदेशक बनाना इसी श्रृंखला की एक कड़ी भर था। राकेश अस्थाना के इतिहास पर भी एक निगाह डालने की आवश्यकता है। वर्तमान प्रधानमन्त्री नरेन्द्र मोदी से राकेश अस्थाना की नजदीकियाँ दो दशक पुरानी हैं। नरेन्द्र मोदी जब गुजरात के प्रधानमन्त्री थे तब अस्थाना गुजरात के पुलिस महकमे में उच्च अधिकारी थे। उनकी गिनती नरेन्द्र मोदी के नजदीकी अधिकारियों में होती थी। 2002 में हुए गोधरा काण्ड को उन्होंने पूर्व नियोजित नहीं बल्कि 'क्रिया की प्रतिक्रिया' कहा था। जबकि 2009 में आयी जाँच रिपोर्ट में साबित हुआ है कि यह पूर्वनिर्धारित था। उनपर वित्तीय अनियमितता के आरोप भी लगे है। अभी हाल में एक रिटायर्ड पी.एस.आई. ने सूरत के पुलिस कमिश्नर रहे राकेश अस्थाना पर 2013-2015 के दौरान पुलिस वेलफेयर फण्ड के 20 करोड़ रुपये अवैध तरीके से भाजपा को चुनावी चन्दे के तौर पर देने का आरोप लगाया था। "आश्चर्यजनक" रूप से इस मामले की फाइलें गुम हो गयी हैं। भाजपा से उनकी नजदीकी ही थी जिसके फलस्वरुप उन्हें सीबीआई के विशेष निदेशक जैसा महत्वपूर्ण पद मिला। सीबीआई के अन्दर भी वे सत्तारुढ पार्टी का ही चेहरा थे। परन्तु इस प्रकरण में वे बुरी तरह फँसे नज़र आ रहे हैं। खैर, अब चूँकि अस्थाना पर रिश्वतखोरी का आरोप है व वे पदच्युत हो चुके है, इसलिए सीबीआइ पर अपना नियंत्रण बनाये रखने के लिए मोदी सरकार ने एम. नागेश्वर राव को अन्तरिम निदेशक के तौर पर नियुक्त किया है। इसके लिए मोदी सरकार ने तमाम नियम कायदे व नियुक्ति पद्धति को ताक पर रख दिया। अव्वल बात यह कि एक तो राव केवल आईजी रैंक के अधिकारी है और उन्हें देश की सबसे बड़ी जाँच एजेंसी में निदेशक जैसा बड़ा पद दे दिया जबकि उनका पिछला रिकॉर्ड काफी अच्छा नहीं रहा है। उनकी एक मात्र उपलब्धि संघ व भाजपा का करीबी होना है। राव उड़ीसा कैडर के आईपीएस अधिकारी रहे हैं और कार्यकाल के दौरान उनका विवादों से चोली दमन का रिश्ता रहा है। उनपर अक्सर भड़काऊ बयानबाजी के आरोप लगते रहे हैं।1998 में अन्तरराष्ट्रीय मानवाधिकार दिवस के अवसर पर आयोजित समारोह में उन्होंने भारतीय संविधान को पक्षपाती बताया व इसे अल्पसंख्यकों का हितैषी बताया। इसी वर्ष एक अन्य समारोह में उन्होंने मुस्लिमों, ईसाइयों व कम्युनिस्टों को मानवाधिकार के लिए सबसे बड़ा खतरा बताया। इसी तरह के भड़काऊ बयान के लिए उन पर एफ़.आई.आर. भी दर्ज है। 2008 में हुए कन्धमाल दंगों के समय वे कन्धमाल जिले में आईजी के पद पर थे। दंगे के दौरान उन्होंने दंगाग्रस्त इलाको में सीआरपीएफ़ की गश्ती को शाम 6 बजे से सुबह 6 बजे तक निषिद्ध कर दिया था जिसका फायदा उठाकर हिन्दू चरमपंथियों ने ईसाइ बहुल इलाकों में मारकाट मचायी व कई निर्दोषों की हत्या की। दंगों के दौरान उनकी भूमिका शक के घेरे में रही। इतना ही नहीं उड़ीसा अग्निशमन विभाग में ए.डी.जी. रहते हुए यूनिफॉर्म खरीद में 3 करोड़ रुपये की हेराफेरी करने का आरोप भी उनपर लगा है। यहाँ तक कि उनकी पत्नी मनिम संध्या पर भी मनी लॉन्ड्रिंग के आरोप लगे हैं। राव पर लगे आरोपों की जाँच पूर्व निदेशक आलोक वर्मा छुट्टी पर भेजे जाने के पहले कर रहे थे। सीवीसी को भी राव की कारगुजारियों का अंदाज़ा था परन्तु किन्ही "रहस्मयी कारणों" से सी.वी.सी भी राव पर कारवाई करने में असफल रही। अब इतने कारनामों के बावजूद राव का निदेशक पद पर चुना जाना दर्शाता है कि मोदी सरकार सी.बी.आई पर अपना नियंत्रण नहीं छोड़ने वाली है।

## और अन्त में ...

इस ड्रामे का आखिरी अध्याय क्या होगा यह तो वक़्त ही बताएगा, पर इतना स्पष्ट है कि भारत में यह फासीवादी उभार अब एक ऐसा "जगरनौट" (न रुकने वाला दैत्य) बन चुका है जो अपनी ताकत के नशे में इतना अन्धा है कि अपने अस्तित्व को चुनौती देने वाले हर सम्भव खतरे को नासूर बनने के पहले ही कुचल सकता है। इसके लिए वह कानून व नियमावलियों से खिलवाड़ करने से भी नहीं चूकता है। जैसा कि लेख में पहले कहा गया है कि जिस "शुचिता", "पारदर्शिता" व "ईमानदारी" का लबादा ओढ़ कर भाजपा सरकार सत्ता में आयी थी वो अब घिस चुका है। अब यह दिन-ब-दिन और ज्यादा नग्न और क्रूर होती जाएगी। वैसे एक सबक तो इसमें भारत के प्रगतिशील तबके के लिए भी है। आज भी कई लोग यह समझते है कि इस सम्वैधानिक संस्थाओं व अन्य एजेंसियों की "पवित्रता" व "निष्पक्षता" को बचाकर इस फासीवादी उभार को रोका जा सकता है, कम से कम अब उन्हें यह मुगालता छोड़ देना चाहिए। वैसे भी ग़ालिब ने भी खूब लिखा है...

***हमको मालूम है जन्नत की हक़ीक़त लेकिन***
***दिल को खुश रखने को ग़ालिब यह ख़याल अच्छा है***

ढोल की पोल

# बाज़ार के हाथों में उच्च शिक्षा को बेचने का षड्यंत्र

●विवेक

मानव संसाधन विकास मंत्री प्रकाश जावड़ेकर ने जब यह घोषणा की कि यू.जी.सी को खत्म कर उच्च शिक्षा की मौनिटरिंग और वित्त के लिए दो नये संस्थान एच.ए.सी.आई. (हेकी) और एच.इ.एफ.ए. (हेफा) बनाये जाएँगे, तब आश्चर्यजनक रूप से केंद्र सरकार के हर फैसले पर विरोध करने वाला विपक्ष चुप रहा व मीडिया ने भी इसे कोई तवज्जो नहीं दी। एक तरफ तो सरकार उच्च शिक्षा से अपना हाथ खींच कर इसे बाज़ार के रहमोकरम पर छोड़ रही है वहीं दूसरी तरफ विशिष्ट संस्थान का दर्जा देकर जिओ इंस्टिट्यूट को 1000 करोड़ रुपये दे रही है। एक शिक्षण संस्थान जो अभी खुला नहीं है , जिसका कोई भौतिक अस्तित्व नहीं है , उस पर इतनी मेहरबानी करना संदेहास्पद तो है ही। खैर, हेकी और हेफा के द्वारा शिक्षा को बाज़ार के हाथों सौपना यह कोई अचानक से घटने वाली घटना नहीं है। अपितु इसकी पूर्वपीठिका काफी पहले से लिखी जा रही थी। यू.पी.ए.सरकार के कार्यकाल से ही शिक्षा के निजीकरण के प्रयास ज़ोरों पर थे। इसकी परिणिति आज मोदी सरकार के कार्यकाल में जाकर हो रही है। कुल मिलाकर इसकी एक गतिकी है जो कई दौरों से होकर गुजरी है।

## आज़ाद भारत में उच्च शिक्षा का इतिहास

भारत को आज़ादी मिलने के बाद उच्च शिक्षा की रूपरेखा तय करने के लिए 1948 में यूनिवर्सिटी एजुकेशन कमीशन, सर्वपल्ली राधा कृष्णन की अध्यक्षयता में बना। एक वर्ष के बाद इसने अपनी रिपोर्ट पेश की, हालाँकि इस पर टाटा-बिरला प्लान का प्रभाव साफ़ देखा जा सकता था। जिसमें उच्च शिक्षा के संचालन के लिए स्वायत्त संस्था के निर्माण की सिफारिश की गयी थी। इसी के आधार पर 1956 में यू.जी.सी की स्थपना की गयी जिसके मातहत उच्च शिक्षण संस्थान को अनुदान देना और इसके अतिरिक्त शिक्षकों की बहाली, व अन्य आधारभूत चीजों का कार्यान्वयन देखना था।

1950-1960 का समय वह दौर था जब उच्च शिक्षा में आबादी का बहुत छोटा हिस्सा ही पहुँच पाता था। भारत का बुर्जुआ वर्ग अभी इतना मज़बूत भी नहीं हुआ था जो अपने दम पर शिक्षण संस्थान खोल पाता पर साथ ही साथ नेहरू के पब्लिक सेक्टर समाजवाद को भी पनपने के लिए कुशल पेशेवरों की आवश्यकता थी। अत: परिणाम स्वरूप इस दौरान उच्च शिक्षा पूरी तरह से सरकार के हवाले रही। कई नये विश्वविद्यालय व आईआईटी जैसे संस्थान खोले गये। 1947 में जब केवल 20 विश्वविद्यालय थे जो 1970 के दशक के अन्त तक बढ़कर 100 के करीब हो गये। हालाँकि उस वक़्त भी कुछ चुनिन्दा संस्थानों को छोड़कर ज्यादातर शिक्षण संस्थानों की हालत बहुत अच्छी नहीं थी। उच्च शिक्षा में आने वाले छात्रों की संख्या बढ़ी जरूर पर यह संख्या कुल आबादी के अनुपात में अभी कम ही थी।

एक बार पुन: शिक्षा में किये गये कार्यों का अवलोकन करने के लिए 1964 में डी.एस. कोठारी की अध्यक्षता में राष्ट्रीय शिक्षा आयोग गठित हुआ, जिसे कोठारी कमीशन के नाम से भी जाना जाता है। इस आयोग का कार्य भारत में शिक्षा के हरेक पहलू का निरीक्षण करना था और इसमें सुधार के लिए सिफारिशें देना था। 1966 मे इसने अपनी रिपोर्ट सरकार को सौंपी, जिसमें शिक्षा पर जीडीपी का 6 प्रतिशत खर्च करने, पहले से खुले संस्थानों की दशा सुधारने जैसी सिफारिशें की गयी थीं। इस रिपोर्ट की कई सिफारिशें लागू भी की गयीं परन्तु शिक्षा पर खर्च को लेकर तत्कालीन इन्दिरा सरकार मौन ही रही।

1991 में जब उदारीकरण व निजीकरण की नीतियाँ लागू की गयीं तो इसका असर उच्च शिक्षा पर भी पड़ा। अन्य क्षेत्रों में निवेश की सम्भावना खुलने के साथ-साथ भारत का बुर्जुआ वर्ग अब यह चाहने लगा था कि उच्च शिक्षा को भी 'प्रॉफिट मेकिंग इण्टरप्राइज़' में बदला जाए। सो, इसकी तैयारियाँ भी शुरू होने लगीं, 1993 में जस्टिस पुनिया और डी.स्वामीनाथन की अध्यक्षता में दो अलग-अलग कमेटियाँ बनी, अगले वर्ष ही 1994 में इन्होने रिपोर्ट यू.जी.सी. को सौंपी जिनमे प्रमुख सिफारिशें थी फ़ीस वृद्धि, स्ववित्त पोषित कोर्स को शुरू करना, स्कॉलरशिप के बदले स्टूडेण्ट लोन की शुरुआत करना आदि। 1995 में राज्य सभा में प्राइवेट यूनिवर्सिटी बिल भी लाया गया परन्तु निजी क्षेत्र के दबाव के कारण पास नहीं हो सका। यह बिल उनकी इच्छा अनुरूप नहीं था, उनपर कई बंदिशे लगाता था। 1997 में वित्त मंत्रालय ने एक दस्तावेज जारी किया जिसमें पहली बार उच्च शिक्षा को 'नॉन-मेरिट गुड' की श्रेणी में रखा गया। अब अधिकारिक रूप से शिक्षा खरीदने बेचने वाला एक माल थी, शिक्षा की मूल परिभाषा ही बदल दी गयी। अब विद्यार्थी ग्राहक थे और शिक्षण संस्थान सेवा प्रदाता था।

हद तो तब हुई जब वर्ष 2000 में शिक्षा में निजीकरण को बढ़ावा देने के लिए नीति तैयार करने के लिए मुकेश अम्बानी व कुमारमंगलम बिड़ला की सदस्यता वाली एक समिति ने सरकार को एक रिपोर्ट सौंपी। इसके बाद तो देश भर में निजी विश्वविद्यालयों की बाढ़ सी आ गयी। रोजगार परक कोर्स जैसे इंजीनियरिंग व मेडिकल के लिए कॉलेज धड़ल्ले से खोले गये। चूँकि 2010 तक कई क्षेत्रों में मुनाफे की दर सिकुड़ने लगी थी इसलिए भारत को कॉर्पोरेट वर्ग के लिए यह आवश्यक था कि वह शिक्षा क्षेत्र में प्रवेश करे। यही कारण था कि अज़ीम प्रेमजी, गोयनका और अब मुकेश अम्बानी जैसे बड़े कॉर्पोरेट भी इस खेल में उतरे।

भारत में उच्च शिक्षा के बाजारीकरण के प्रयास वैसे तो पिछले दो दशकों से जारी है। जिसका पहला चक्र यू.पी.ए-1 के शासन काल में तब पूरा हुआ जब तत्कालीन प्रधानमंत्री मनमोहन सिंह ने 2005 में दोहा में शिक्षा को डब्लूटीओ-गेट्स समझौते के अन्तर्गत लाने के लिए वार्ता पर सहमति दी थी। इस फैसले की परिणति तब हुई जब वर्तमान प्रधानमन्त्री नरेन्द्र मोदी ने दिसम्बर 2017 में नैरोबी में इस समझौते पर दस्तखत किये। यानी अब भारत का शिक्षा बाज़ार देशी-विदेशी दोनों किस्म की पूँजी के लिए खुला हुआ है। इसके अतिरिक्त केंद्र सरकार द्वारा ऐसे कई फैसले लिए गये जिससे उच्च शिक्षा के प्रति उनके रवैये को स्पष्ट तौर पर समझा जा सकता है। वित्तीय स्वायत्तता देने के नाम पर 62 शिक्षण संस्थानों के निजीकरण की साजिश रची गयी। इसके अलावा उच्च शिक्षा के यूजीसी को दिए जाने वाले बजट में कटौती, वैज्ञानिक शोधों के लिए सीएसआईआर को दिये जाने वाले बजट में कटौती की गयी। इसके दुष्परिणाम भी सामने आये, फण्ड की कमी के कारण कुछ शोध परियोजनाएँ बन्द भी करनी पड़ी। लेकिन मौजूदा सरकार इतने पर भी नहीं रुकी है, पिछले दिनों केंद्र सरकार ने यह घोषणा की कि यूजीसी (यूनिवर्सिटी ग्राण्ट कमीशन) को खत्म कर उच्च शिक्षा की मॉनिटरिंग के लिए एक नयी संस्था एचएसीआई (हायर एजुकेशन कमीशन ऑफ़ इंडिया ) की स्थापना की जाएगी। संसद में इस बार के मानसून सत्र में इससे सम्बन्धित बिल भी पेश किया जायेगा।

## हेकी और हेफा, आखिर हैं क्या ?

हेकी यानी हायर एजुकेशन कमीशन ऑफ़ इंडिया एक ऐसा निकाय होगा जो मानव संसाधन मंत्रालय के मातहत कार्य करेगा और इसके पास शिक्षण संस्थानों को मान्यता देने, नियमित करने, विनिवेश करने का अधिकार होगा। यूजीसी के पास अपनी स्वायत्तता थी जबकि हेकी सरकार के मातहत कार्य करेगा। सबसे आश्चर्यजनक बात यह है कि हेकी के पास किसी तरह की आर्थिक शक्तियाँ नहीं होंगी, अर्थात शिक्षण संस्थानों को फण्ड देना इसके अधिकार क्षेत्र में नहीं होगा। अब फण्डिंग देने का काम एक और नयी संस्था हेफा ( हायर एजुकेशन फाइनेंसिंग एजेंसी ) करेगी, नाम से ही स्पष्ट है कि यह नयी संस्था फाइनेंस करेगी, यह शिक्षण संस्थानों को ग्राण्ट नहीं देगी। हालाँकि, हेफा कोई सरकारी संस्थान नहीं है ये आर. बी.आई के पास कम्पनी एक्ट के अन्तर्गत पंजीकृत एक नॉन बैंकिंग फाइनेंसिंग कम्पनी है। खुद इसकी वेबसाइट पर यह लिखा है कि यह कैनरा बैंक व एम.एच.आर.डी का संयुक्त उपक्रम है।

हेफा की स्थापना के वक़्त इसकी मूल पूँजी 2000 करोड़ थी, जिसे केबिनेट के फैसले के बाद बढ़ाकर अब 10000 करोड़ कर दिया गया है। हेफ़ा के दायरे में पहले जहाँ आई.आई.टी., एन.आई.टी., आई.आई.एस.सी., आईसर आते थे अब इसका दायरा बढ़ाकर केंद्रीय विश्वविद्यालयों को भी इसमें शामिल कर लिया गया है। दरअसल हेफा शिक्षण संस्थानों को अनुदान नहीं बल्कि उधार देगी। यह बाज़ार से कॉर्पोरेट सोशल रेस्पोंसिबिलिटी (सीएसआर) और निजी परोपकारी दानकर्ताओं के जरिये पूँजी इकट्ठा करेगी और शिक्षण संस्थानों को देगी। परन्तु, इस उधार का मूलधन शिक्षण संस्थानों को खुद ही चुकाना होगा व ब्याज केंद्र सरकार चुकाएगी। यानी जनता का पैसा निजी कोर्पोरेटो को समर्पित कर देगी। उच्च शिक्षा में फंडिंग करने का यह मॉडल अमेरिका के 'येल मॉडल' के आधार पर बनाया गया है। जहां उच्च शिक्षा में निवेश सरकार के बदले निजी क्षेत्रों से आता है। इसका यह परिणाम भी निकला है कि अमेरिका में कॉलेज की शिक्षा प्राप्त करना बहुत महँगा हो चुका है। अब इस पूरे खेल को समझिये, इस फैसले से केंद्र सरकार कई चीज़ों पर निशाना साध रही है, अब वह विश्वविद्यालयों पर सीधा नियंत्रण भी कर सकेगी, क्योंकि पिछले कुछ समय से मोदी सरकार की फासीवादी नीतियों के खिलाफ सबसे ज्यादा प्रतिरोध के स्वर विश्वविद्यालयों से आये है, अब इन सुधारों के जरिये वह इस पर लगाम लगा सकेगी। साथ ही शिक्षण संस्थानों को सीधे-सीधे बाज़ार के हवाले किया सकेगा| इसके लिए सीएसआर जैसा शब्द भी इजाद किया जा चुका है। अब पूँजीवाद में अगर कोर्पोरेट पूँजीपति अगर कहीं पैसा लगाएगा तो मुनाफा कमाना उसका मुख्य ध्येय होगा। अब तो यह केंद्र सरकार ही समझ सकती है कि बाज़ार और चन्द परोपकारी पूँजीपतियों की "भलमनसाहत" से उच्च शिक्षा का कितना "भला" हो सकता है?

## ये सुधार उच्च शिक्षा के लिए विनाशकारी होंगे!

लेकिन यह बात भी उतनी ही सच है कि ज्यादतर निजी शिक्षण संस्थान गुणवत्तापूर्ण शिक्षा उपलब्ध नहीं कराते। एक तरफ...

(पेज -15 पर जारी)

ढोल की पोल

# 'अच्छे दिनों' की मृगतृष्णा

● अविनाश

मृगतृष्णा एक दृष्टि भ्रम होता है जो आपको उस चीज पर विश्वास दिलाता है जो यथार्थ से कोसों दूर होता है। मोदी सरकार ने भी ठीक इसी तरह अच्छे दिनों के गुलाबी हसीन सपने दिखाए थे ।यह वह समय था जब जनता कांग्रेस की एक दशक के कार्यकाल में घोटालों, बढ़ती गरीबी, रोजगार रहित विकास आदि से परेशान थी। तब छप्पन इंच का सीना फाड़े शेर की तरह दहाड़ता हुआ जगह-जगह 'अच्छे दिन आने वाले हैं' का पोस्टर बैनर व विज्ञापन मिल जाता था। पूँजीपतियों को आर्थिक मन्दी के दौर में एक ऐसी पार्टी की जरूरत थी जो कांग्रेस से भी दस कदम आगे डण्डे मार कर जनता से मुनाफा लूट सके इसीलिए टाटा, बिड़ला, अम्बानी, अडानी ने सोलहवें लोकसभा चुनाव में प्रचार में ₹40000 करोड़ खर्च किया जिसमें से अकेले 10000 करोड़ रुपये मोदी पर खर्च किए गये। दरअसल 'बहुत हुई महँगाई की मार ,अबकी बार मोदी सरकार','बहुत-बहुत जनता पर वार, अबकी बार मोदी सरकार','सबका साथ सबका विकास' जैसे नारों की जरूरत फासीवादियों को अपने आप को स्वच्छता, नैतिकता, शुद्धि के पर्याय के तौर पर पेश करने के लिए होती है। ऐसा इसलिए होता है कि पूरी की पूरी फासीवादी राजनीति दरअसल राजनीति का सौंदर्यीकरण करती है। आज की पूँजीवादी व्यवस्था में सूचना संचार और संस्कृति का तंत्र सिनेमा के बाद टेलीविजन, केबल, कम्प्यूटर और इन्टरनेट के वर्तमान दौर में जितना संगठित है उसकी पहुँच जितनी व्यापक हुई है और विचारधारात्मक प्रचार आक्रमण और अनुकूलन के जितने सूक्ष्म और बहुआयामी तौर तरीके आज चलन में है इतना पहले कभी नहीं थे। मनोरंजन और विज्ञापन उद्योग न सिर्फ पूँजी निवेश के बहुत बड़े क्षेत्र बन गये हैं बल्कि संस्कृति और विचारधारा क्षेत्र मे इन्होंने विश्व पूँजी को अभूतपूर्व नयी शक्ति और प्रभाव क्षमता से लैस किया है। पूँजीवादी सांस्कृतिक उत्पादन आज एक विश्वव्यापी उद्योग के समान संगठित तरीके से काम कर रहा है। फासीवादी राजनीति ने भी इसका जमकर इस्तेमाल किया है। अगर हम इन फासीवादी नारों की जमीनी हकीक़त पर गौर करें तो चीज़ें और स्पष्ट होती हैं।

## बहुत हुई महँगाई की मार

ग्लोबल हंगर इंडेक्स रिपोर्ट के मुताबिक 119 देशों में भारत 100वें पायदान पर आता है जो कि नॉर्थ कोरिया, बांग्लादेश से भी पीछे है। एक दूसरे आंकड़े के मुताबिक 2015-16 में 1/5 से भी ज्यादा बच्चे (21 प्रतिशत) वेस्टिंग (लंबाई के हिसाब से कम वजन) से जूझ रहे हैं। आज एक बड़ी आबादी को सम्पूर्ण आहार, जिसमें कार्बोहाइड्रेट, फाइबर, मिनरल्स, विटामिन शामिल है, नहीं मिलता है। 1991 यानी निजीकरण उदारीकरण नीति के लागू होने के बाद से 2015 तक प्रति व्यक्ति दाल का सेवन 61 ग्राम से घटकर 44 ग्राम तक पहुँच गया है। पर जो 'बहुत हुई महँगाई की मार, अबकी बार मोदी सरकार' के नारे दे रहे थे उनकी सरकार में नवम्बर 2015 में अरहर दाल के दाम ₹200 प्रति किलो तक पहुँच गये थे। आज दाल, सब्जी ,तेल, गैस आदि रोजमर्रा के सभी सामानों के दाम में इज़ाफ़ा हुआ है। अभी हाल ही में पेट्रोल और डीजल के दाम में 5 साल में सबसे ज्यादा बढ़ोत्तरी देखी गयी है। इकॉनॉमिक टाइम्स रिपोर्ट के मुताबिक पेट्रोल डीजल के दाम के बढ़ने से किराने के सामान में 4 से 7% की बढ़ोत्तरी होगी। पर सवाल यह है कि क्या मौजूदा सरकार बढ़ती महँगाई पर अंकुश लगा सकती है। आइए देखते हैं बढ़ते तेल के दाम के पीछे के कारण क्या है।अभी हाल ही में सरकार ने पेट्रोल और डीजल के दाम बढ़ाये हैं पेट्रोल के दाम दिल्ली में 73.73 रुपये और वही मुंबई में 86.33 है। यह सब 14.5 प्रतिशत कच्चे तेल में वृद्धि और

3.2% रुपये में हुए गिरावट के चलते हुआ है ।पर इस सरकार में अगर पेट्रोल के दामों पर गौर करें तो पता चलेगा कि जब कच्चे तेल के दाम मई 2014 में $113 प्रति बैरल से घटकर जनवरी 2015 में $50 प्रति बैरल पर आ गयी तब प्रधानमंत्री नरेंद्र मोदी ने इसे अपना भाग्य बताया था।कच्चे तेल के दाम गिरने का सिलसिला यहीं नहीं रुका बल्कि जनवरी 2016 तक यह $29 प्रति बैरल तक पहुंच गयी पर इसका असर आम जनता को पेट्रोल डीजल के दामों में कटौती के तौर पर बिल्कुल नहीं मिला बल्कि पेट्रोल और डीजल की एक्साइज ड्यूटी में 5 मई 2014 से सितम्बर 2017 तक 12 गुना की वृद्धि देखी गयी। पेट्रोलियम प्लानिंग एंड एनालिसिस ( PPAC) डाटा के अनुसार एक्साइज ड्यूटी 54 प्रतिशत बढ़ी, वैट में 46% और डीलर कमीशन में 73% की वृद्धि हुई। सरकार ने 99 हजार करोड़ 2014-15 से 242 हजार करोड़ 2016-17 में यानी 15 महीने में रेवेन्यू दोगुना हो गया आज हालात ऐसे हैं कि पूरी दक्षिण एशिया में भारत में पेट्रोल और डीजल के दाम सबसे ज्यादा हैं। मौजूदा सरकार ने महँगाई की मार पर रोक लगाने के बजाय बढ़ाने में सबसे बड़ा योगदान दिया है।

## बहुत हुआ महिलाओं पर वार

मोदी सरकार 'बेटी पढ़ाओ बेटी बचाओ' के नारे को लायी थी जिससे सम्भवतः महिलाओं कि साक्षरता बढ़नी चाहिए थी और महिला विरोधी अपराधों में कमी आनी चाहिए थी। भारत में 2011 की जनगणना के अनुसार 1000 पुरुषों पर 940 महिलाएँ हैं। यह आँकड़ा हरियाणा में 879, चंडीगढ़ में 818, दिल्ली में 868 तक पहुंच जाता है। वहीं साक्षरता दर 74.4% है जिसमें से पुरुष साक्षरता दर 82.14 प्रतिशत है और महिला साक्षरता दर 65.48% है। जिस स्कीम के तहत 161 जिलों में घटते लिंगानुपात जिसका एक कारण भ्रूण हत्या है, उसके लिए जनता को जागरुक करने के लिए अभियान चलाया जाना था। पर इसका 90% पैसा पार्लियामेंट्री पैनल के अनुसार इस्तेमाल ही नहीं किया गया। 2016-17 में इस स्कीम के 43 करोड़ में से सिर्फ 5 करोड़ खर्च किया गया। एनसीआरबी रिपोर्ट के अनुसार 2015 में कुल 10,854 मामले दर्ज हुए थे वहीं 2016 में इसकी संख्या बढ़कर 19,765 हो गयी। अभी 2017 की रिपोर्ट आनी बाकी है। सबसे ज्यादा शर्मसार करने वाली घटना 2018 की शुरुआत में घटी जिसमें कठुआ में 8 साल की बच्ची के साथ बर्बर तरीके से बलात्कार किया गया और मार दिया गया। इस घटना के बाद 'हिंदू एकता मंच' द्वारा आरोपियों के समर्थन में रैली निकाली गयी जिसमें भाजपा के दो विधायक भी शामिल थे। इस पूरे मामले को साम्प्रदायिक रंग दिया गया। वहीं दूसरी घटना में जनता के सेवक बीजेपी एम.ल.ए. कुलदीप सिंह सैंगर ने एक नाबालिक लड़की के साथ बलात्कार किया जिसपर उत्तर प्रदेश की योगी आदित्यनाथ की सरकार ने 1 साल तक कोई कार्रवाई नहीं की, जब तक उनके मुख्यमंत्री के दफ्तर पर लड़की ने जान देने की कोशिश नहीं की थी। उसके बाद भी लड़की के पिता को गिरफ्तार करके हवालात में बंद कर दिया गया, जहां पर उनकी मौत हो गयी। इन घटनाओं की जब परतें खुल ही रही थी उसी समय देश के अलग-अलग इलाकों सासाराम, सूरत और इंदौर में भी ऐसी बर्बर घटनाएँ घट रही थी। इस पर भी बीजेपी के नेताओं द्वारा घृणास्पद बयान देना जारी था। साथ-साथ आसाराम, राम रहीम जैसे बाबाओं के साथ भाजपा नेताओं की साँठ-गाँठ से सभी वाकिफ़ हैं। इन घटनाओं से भाजपा सरकार का 'चाल-चेहरा-चरित्र' सबके सामने उजागर हो जाता है।

## किसका साथ किसका विकास

ऑक्सफैम की रिपोर्ट के अनुसार 2017 में देश के 1% लोग देश की 73% सम्पत्ति पर कब्जा करके बैठे हैं। अमित शाह के बेटे जय शाह की सम्पत्ति में 16000 गुना की वृद्धि हुई है, विजय माल्या और नीरव मोदी जो 9000 करोड़ और 11000 करोड़ रुपये लोन लेकर विदेश भाग गये। पनामा और पैराडाइज़ पेपर के खुलासे के बाद सरकार की नंगयी साफ तौर पर जगजाहिर हो गयी कि इनका मकसद काला धन लाना नहीं उसे सफ़ेद धन में तब्दील करना है। इस साल रिकॉर्ड ब्रेक करते हुए सरकार ने एनपीए के मातहत 1,44,093 करोड़ रुपये माफ़ कर दिया। एक तरफ धन्नासेठों-मालिकों के लिए पलकें बिछाकर काम किया जा रहा है वहीं दूसरी तरफ कश्मीर से तूतीकोरिन तक जनता के प्रतिरोध को डंडे और बन्दूक के दम पर दबाया जा रहा है। छात्र, नौजवान, मजदूर, किसान, दलित, महिलाएँ सब पर चौतरफा हमला किया जा रहा है। 2 करोड़ नौकरियाँ हर साल देने का वादा, नमामि गंगे में 7000 करोड़ रुपये खर्च किये जाने, 2019 तक सबको बिजली जैसे लोकलुभावन वायदों की हकीकत सबके सामने खुल रही है। अच्छे दिन आये पर धन्नासेठों के लिए, आम जनता की हालात बद से बदतर ही हुई है।

## 'अच्छे दिनों' की मृगतृष्णा को तोड़ो

दरअसल फासीवादी प्रचारतंत्र ऐसे ही जनता के बढ़ते असन्तोष को फासीवादी राजनीति के अनुसार संयोजित करके काम करता है क्योंकि इसका दर्शन प्रतिक्रियावादी व्यवहारवाद होता है। ऐसे किस्म के प्रचार में अनगिनत किस्म के आकारहीन और दिशाहीन सामाजिक असन्तोष को अपने मे समेट लेने की क्षमता होती है। कारण यह है कि फासीवादी प्रचार वास्तव में एक साथ इन तमाम अस्पष्ट सामाजिक....

(पेज -46 पर जारी)

विमर्श

# कलाकार का सामाजिक दायित्व क्या है?

●सनी

सच्चे कलाकार को जनता के दुखों को अपने कैनवास, सेल्यूलोईड या संगीत में उतार लाना होगा। इस कथन में ही यह निहित है कि मौजूदा बाज़ार पर चलने वाली व्यवस्था में एक कलाकार को अपनी कलाकृति को बाजारू माल नहीं बल्कि जनपक्षधर औज़ार बनाना होगा। आज जिस समाज में हम जी रहे हैं वह मानवद्रोही और कलाद्रोही है और नैसर्गिक तौर पर कोई भी कलाकार इस समाज की प्रभावी विचारधारा से ही निगमन करता है परंतु उसकी कला उसकी पूँजीवादी विचारधारा के नज़रिये के विरोध में रहती है। कला इसलिए ही एक आदमी द्वारा दूसरे आदमी के शोषण पर टिके मौजूदा समाज के खिलाफ़ विद्रोह के साथ ही संगति में रहती है। आज जब देश में फासीवादी सरकार जनता के हक अधिकारों को अपने बूटों तले कुचल रही है तो क्या इन मसलों पर कलाकारों द्वारा एक जनपक्षधर विरोध देश में उठता दिख रहा है? नहीं। हालाँकि कलाकार भी इन सभी मुद्दों से अलहदा नहीं हैं। इस सवाल पर थोड़ा विस्तार से बात करते हैं। ऊपर किये विमर्श से यह अर्थ निकलता है कि कलाकार को तमाम सामाजिक मुद्दों में अपनी पक्षधरता चुननी होगी, उसे अपना पक्ष देश की मेहनतकश जनता के पक्ष लेना होगा। इस प्रश्न को दो तरीकों से देखा जा सकता है। एक नैतिकता के नज़रिये से तो दूसरा एतिहासिक और वैज्ञानिक तौर पर।

पहले नैतिक नज़रिये से अगर इस सवाल को देखते हैं। कलाकार के जीवन कि सभी ज़रूरतें देश की आम मेहनतकश आबादी पूरा करती है। रोटी, कपड़ा मकान से लेकर हर ज़रूरत का सामान 12-14 घंटे फैक्टरियों और खेत-खलिहान में खटकर बनाती है। इस देश के हर नागरिक पर या कॉर्पोरेट घराने को जो पैसा दिया जा रहा है उसका सबसे बड़ा हिस्सा मेहनतकश आबादी पैदा करती है। कला के छात्र भी जो उच्च शिक्षण संस्थानों में पढ़ पा रहे हैं तो यह उनकी ज़िम्मेदारी बनती है कि वे अपने समाज को अपनी कला के जरिये बदल दें, उसकी सेवा करें। तमाम कला विद्यालयों महाविद्यालयों को विश्वविद्यालय अनुदान के जरिये कुल पढ़ाई लिखाई का एक बड़ा हिस्सा देश की जनता के जरिये मिलता है। सरकारी खजाने से मिलने वाले इस पैसे में सबसे बड़ा हिस्सा अप्रत्यक्ष करों से आता है जिसका सबसे बड़ा हिस्सा इस देश की गरीब जनता देती है। इसलिए क्या यह कलाकारों की नैतिक ज़िम्मेदारी नहीं बन जाती है कि वे उस मेहनतकश जनता और उस समाज का कर्ज चुकाएँ और जनता के पक्ष को हिम्मत के साथ उठायें। लोर्का, पिकासो से लेकर तमाम कलाकार जनता के कलाकार थे जो ज़रूरत पड़ने पर अपनी जान की कुर्बानी कर जनपक्षधर बने रहे।

अब दूसरे पहलू यानी ऐतिहासिक और वैज्ञानिक नज़रिये से इस सवाल को देखते हैं। कलाकार इस दुनिया की गति और उसकी आवाज़ों को सँवारते हैं, उसके रंगों को खूबसूरती देते हैं या बिम्बों और सिने दृश्यों को रचते हैं। पिकासो के शब्दों में कला ज़िन्दगी से अनावश्यक को छाँटने का काम करती है। आज की सामाजिक परिस्थिति में कलाकार क्या पक्ष चुने? किन आवाज़ों को सँवारे, किन दृश्यों को रचे? देश के अन्दर जनता पर और विश्वविद्यालयों में छात्रों पर सत्ता का दमन बदस्तूर जारी है। देश में फासीवादी सरकार का दमन विद्रोह की माँग कर रहा है। परन्तु कलाकार इन मुद्दों से अलग खड़े हैं। क्योंकि आज कला के उत्पादों को बाज़ारू माल बना दिया गया है और कला की सामजिक भूमिका के बारे में बात करना ही चलन में नहीं है। इस सवाल को भले ही हमें किताबें और अखबार और अकादमिक पाठ्यक्रम न बताये पर कला समाज में जो घट रहा है उससे प्रभावित होती है। यही कला की अनवरत चलती दास्ताँ है। आज भले ही कला को म्यूज़ियम और स्टूडियो तक सीमित कर दिया गया है और कला के दर्शन को "कला कला के लिए" तक सीमित कर दिया गया है परन्तु अगर हम जनपक्षधर कलाकारों की ज़िन्दगी और उनकी कलाकृतियों पर नज़र डालें तो ये कुछ और ही बयां करती हैं। कूर्बे खुद क्रान्तिकारी थे और उनकी कला सत्ता के दमन का विरोध करती थी और मेहनतकश आवाम की आवाज़ थी। लेओनार्दो दा विन्ची की विख्यात तस्वीर मोनालिसा में एक बर्गर यानि व्यापारी घराने की महिला की तस्वीर ने राजे रजवाड़े के परिवारों की जगह सत्ता से बाहर लोगों के जीवन को कला की दुनिया में प्रवेश कराया। मोनेट से लेकर माइकलएंजेलो ने अपने समय में मौजूद दमनकारी सत्ता की संस्कृति और राज्य को चुनौती दी। बीथोवेन की सिम्फनी नंबर पाँच फ्रांसिसी जन क्रान्ति का विजय गान है तो पिकासो की गुएर्निका ने युद्ध के खिलाफ क्रान्तिकारी प्रतिरोध का झण्डा बुलन्द किया। परन्तु यह सब हमें क्लासरूम में नहीं पढ़ाया जाएगा। हमें अलग

विधाओं 'एक्सप्रेशनिज़्म, इम्प्रेशनिज़्म, सुर्रियलिज़्म" आदि से इमारत, मानव शरीर और क्षितिज की आकृति को उभारना सिखाया जायेगा परन्तु इन विधाओं के सामाजिक उद्भव और भूमिका पर कोई बात नहीं की जायेगी। कला समाज और प्रकृति का प्रतिबिम्बन मात्र नहीं बल्कि पुनर्सृजन है। वह लोगों के अन्दर जीवन के पार्थक्य और अलगाव को ख़त्म करने का माध्यम है। यह उत्पीड़ित की आवाज़ है। किसी कलाकार के मन पर सामाजिक घटनाओं की छाप किस तरह पड़ती है वही वह वापस अपनी कलाकृति में उकेरता है।

कला का उद्भव ही सामाजिक होता है। एक कलाकार समाज का हिस्सा होता है और उसका सामाजिक परिवेश उसकी कला को प्रभावित करता है। न सिर्फ कलाकार की कला को उसका सामजिक परिवेश प्रभावित करता है बल्कि कला भी सामाजिक होती है। और वह पलटकर समाज को बदलने में भूमिका निभाती है। पुरखों से विरासत में मिली कलाकृतियाँ और कलात्मक ज्ञान या संवेदन ही वह आधार बनता है जिसके ऊपर कोई कलाकार नवीन कलात्मक कृति का सृजन करता है। कलाकार की कूची से लेकर उसके रंग या कैमेरा तक कलाकार के समाज के उत्पादन स्तर द्वारा निर्धारित होते हैं। रोज़-रोज़ हमारी जीवन की बुनियादी शर्त को पैदा करने वाली मेहनतकश आबादी द्वारा रची दुनिया और प्रकृति की परिघटनाएँ जो हमारी चेतना पर संवेदनात्मक प्रभाव छोड़ती हैं या वर्ग समाज में वर्गों के बीच का टकराव जो युद्ध और शांति के अनवरत क्रम को जन्म देता है इन सब प्रक्रियाओं को कृतियों में ढाल पाने की कलाकार की क्षमता अन्ततः सामाजिक होती है। ब्रेष्ट के शब्दों में कलाकार को अपने समाज को कला के जरिये न सिर्फ़ आईना दिखाना चाहिए बल्कि उसे एक औजार की तरह इस्तेमाल कर समाज को बदल देना चाहिए। बल्कि सच्ची कला विद्रोह से ही पैदा होती है। कला सामाजिक संघर्षों की आँच से ही विकसित होती है और उसे काफी हद तक प्रभावित भी करती है। कलाकारों को भी इसमें अपनी भूमिका तय करनी चाहिए। रंगों में आकार, ब्रश के स्ट्रोक, संगीत में आरोह और अवरोह या नाटक में दुखांत या सुखान्त लोगों को इसलिए ही प्रभावित करते हैं क्योंकि कोई भी कलाकृति सामाजिक घटनाओं की भावनात्मक और विचारगत अभिव्यक्ति होती है। एक कलाकार को "पैसा कमाने" के चलन से इतर अपने सामाजिक दायित्व का निर्वाह करना चाहिए। पिकासो के ये शब्द इस आशय को व्यक्त करते हैं -"आप क्या सोचते है एक कलाकार क्या है? एक मूर्ख, जिसके पास सिर्फ आँखें है अगर वह पेंटर है, या सिर्फ कान अगर वह संगीतकार हो? इसके ठीक विपरीत, वह एक राजनीतिक प्राणी होने के साथ दुनिया में घटने वाली मर्मभेदी, ज्वलंत और सुखद घटनाओं के प्रति निरंतर सतर्क रहते हुए खुद को उनके समरूप ढालते रहता है।"

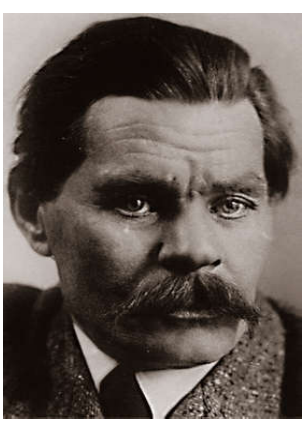

***हर उस आदमी को जो सच्चे मन से यकीन करता है कि स्वतन्त्रता, सुन्दरता और तर्कसंगत जीवन जीने की मानवजाति की आकांक्षा बेकार का सपना नहीं, बल्कि वह असली ताकत है जो जीवन के नये-नये रूपों का सृजन कर सकती है, एक ऐसा उत्तोलन है जो पूरी दुनिया को उठा सकता है।***

***- मक्सिम गोर्की***

कविता

# ऊपर के कमरे सब अपने लिए बन्द हैं

('चाँद का मुँह टेढ़ा है' कविता का एक अंश, मुक्तिबोध के जन्मदिवस के अवसर पर)

●मुक्तिबोध

पेण्टर ने हँसकर कहा--
पोस्टर लगे हैं,
कि ठीक जगह
तड़के ही मज़दूर
पढ़ेंगे घूर-घूर,
रास्ते में खड़े-खड़े लोग-बाग
पढ़ेंगे ज़िन्दगी की
झल्लायी हुई आग !
प्यारे भाई कारीगर,
अगर खींच सकूँ मैं--
हड़ताली पोस्टर पढ़ते हुए
लोगों के रेखा-चित्र,
बड़ा मज़ा आयेगा।
कत्थई खपरैलों से उठते हुए धुएँ
रंगों में
आसमानी सियाही मिलायी जाय,
सुबह की किरनों के रंगों में
रात के गृह-दीप-प्रकाश की आशाएँ घोलकर
हिम्मतें लायी जायँ,
स्याहियों से आँखें बने
आँखों की पुतली में धधक की लाल-लाल
पाँख बने,
एकाग्र ध्यान-भरी
आँखों की किरनें
पोस्टरों पर गिरे--तब
कहो भाई कैसा हो ?
कारीगर ने साथी के कन्धे पर हाथ रख
कहा तब--
मेरे भी करतब सुनो तुम,
धुएँ से कजलाये
कोठे की भीत पर
बाँस की तीली की लेखनी से लिखी थी
राम-कथा व्यथा की
कि आज भी जो सत्य है
लेकिन, भाई, कहाँ अब वक़्त है !!
तसवीरें बनाने की
इच्छा अभी बाक़ी है--
ज़िन्दगी भूरी ही नहीं, वह ख़ाकी है।
ज़माने ने नगर के कन्धे पर हाथ रख
कह दिया साफ़-साफ़
पैरों के नखों से या डण्डे की नोक से
धरती की धूल में भी रेखाएँ खींचकर
तसवीरें बनाती हैं
बशर्ते कि ज़िन्दगी के चित्र-सी
बनाने का चाव हो
श्रद्धा हो, भाव हो।
कारीगर ने हँसकर
बगल में खींचकर पेण्टर से कहा, भाई
चित्र बनाते वक़्त
सब स्वार्थ त्यागे जायँ,
अंधेरे से भरे हुए
ज़ीने की सीढ़ियाँ चढ़ती-उतरती जो
अभिलाषा--अन्ध है
ऊपर के कमरे सब अपने लिए बन्द हैं
अपने लिए नहीं वे !!

कला

# कैथी कॉलवित्ज़ –एक उत्कृष्ट सर्वहारा कलाकार

●वारुणी

"मैंने यह महसूस किया है कि मुझे लोगों के दुखों की प्रवक्ता की भूमिका से निवृत होने का कोई अधिकार नहीं। यह मेरा कर्त्तव्य है कि मैं लोगों की तकलीफ़ों को एक आवाज़ प्रदान कर सकूँ, पहाड़ों सी विशाल….वो तकलीफें जो कभी ख़त्म होती नहीं दिखतीं।"

कॉलवित्ज़, जो एक महान जर्मनप्रिंटमेकर व मूर्तिकार थीं, अपने समय के कलाकारों से अलग एक स्वतन्त्र और रैडिकल कलाकार के रूप में उभर कर आती है। उन्होंने शुरू से ही कलाकार होने के नाते समाज के प्रति अपनी ज़िम्मेदारी को समझा और अपनी पक्षधरता तय की। उनके चित्रों में हम शुरुआत से ही गरीब व शोषित लोगों को पाते हैं, एक ऐसे समाज का चेहरा देखते हैं जहाँ भूख है, गरीबी है, बदहाली है और संघर्ष है! उनकी कला ने जनता के अनन्त दुखों को आवाज़ देने का काम किया है। उनकी कलाकृतियों में ज़्यादातर मज़दूर तबके से आने वाले लोगों का चित्रण मिलता है। वह "सौंदर्यपसंद" कलाकारों से बिलकुल भिन्न थीं। प्रचलित सौंदर्यशास्त्र से अलग उनके लिए ख़ूबसूरती का अलग ही पैमाना था, उनमें बुर्जुआ या मध्य वर्ग के तौर-तरीकों व ज़िन्दगी के प्रति कोई आकर्षण नहीं महसूस होता। वे हर जगह सर्वहारा वर्ग को अपने चित्रों में दिखाती हैं। एक बार अपने पिता द्वारा पूछे जाने पर कि वो क्यों हमेशा उन्हीं की ज़िन्दगी को अपनी कलाकृति में उभारती हैं, उन्होंने कहा था कि "अपने विषयों को, लगभग पूर्ण रूप से, मज़दूरों की ज़िन्दगी से चुनने के पीछे वास्तविक प्रेरणा यह थी, कि केवल यही विषय मेरे लिए एक सरल और सहज माध्यम प्रस्तुत करते थे, जिसे मैंने सुन्दर पाया। साधारण लोगों की स्वाभाविक स्वछन्दता में एक अप्रतिम सौंदर्य था। मध्य वर्ग के लोग मुझे तनिक भी नहीं भाये। बुर्जुआ जीवन मुझे सामग्रिक रूप से उबाऊ लगता था। इसके विपरीत सर्वहारा वर्ग के तौर-तरीके में एक गरिमा थी, उनकी ज़िन्दगी को एक विस्तृत आयाम मिलता था।"

उन्होंने मैक्स क्लिंगर की तरह अपनी कला को एचिंग व ड्राइंग पर ही केंद्रित रखा व पेंटिंग और रंगों से अपने कलाकृति को निखारने या खूबसूरत बनाने की कोशिश नहीं की और यही उनके कलाकृतियों की खूबसूरती थी कि वे अपने विषय के साथ सामंजस्य बनाये हुए 'फॉर्म' को बेहतरीन तरीके से विकसित कर पाती हैं। और वे इस सार्थक 'फॉर्म' को बरक़रार रखती हैं। अपने शुरुआती समय से ही मेहनतकश लोगों, शोषित-उत्पीड़ित जनता को दिखाना और बाद के दौर में सचेतन तौर पर अपनी कला के साथ एक ऐतिहासिक सामाजिक ज़िम्मेदारी को जोड़ना-एक कलाकार के रूप में कॉलवित्ज़ जिस तरह विकसित हुई उसमें उनके समय और परिस्थितियों की महत्वपूर्ण भूमिका रही है। किसी भी कलाकार की कलाकृति को उसके समय और उसकी ज़िन्दगी की परिस्थितियों से रूबरू हुए बिना नहीं समझा जा सकता।

कैथी कॉलवित्ज़ का जन्म 8 जुलाई 1867 में कौनिग्सबर्ग, प्रशिया (जर्मनी) में हुआ था। उनके पिता, कार्ल श्मिट, एक सामाजिक जनवादी थे जो राजमिस्त्री का काम करते थे। वे जर्मनी की सामाजिक जनवादी पार्टी से जुड़े हुए थे। उनकी माँ, कैथरीना श्मिट, जूलियस रूप की बेटी थीं जो एक लूथरन पादरी था। कैथी अपने दादा से भी बहुत हद तक प्रभावित थीं। कॉलवित्ज़ की प्रतिभा को पहचानते हुए, उनके पिता ने उन्हें बारह वर्ष की उम्र में ही रुडोल्फ माउएर जोकि एक स्थानीय मूर्तिकार व नक्काशीदार था, से प्लास्टर कास्टिंग और प्रतिलिपि बनाने में प्रशिक्षित करवाया। सोलह वर्ष में वे अपने पिता के कार्यालय में काम करने वाले लोगों, नाविकों

और किसानों के चित्र बनाने लगीं। कॉलवित्ज़ ने समाज के जिस तबके को अपनी कलाकृतियों का विषय बनाया, उसका आधार हम उनके पारिवारिक परिस्थितियों में व उनके पिता के रुझानों में भी पाते हैं।

एक ऐसे समय में जब सरकारी कॉलेज व कला अकादमी को लड़कियों के लिए उपलब्ध नहीं कराया जाता था, कॉलवित्ज़ ने अपना अध्ययन-प्रशिक्षण जारी रखने की इच्छा जतायी। उन्होंने कोनिसबर्ग कला अकादमी में दाखिला लेने की कोशिश की परन्तु उन्हें निराशा हाथ लगी। तब उनके पिता ने चित्रकार एमिले नेईडे के तहत उनके कला - प्रशिक्षण की शुरुआत करवायी। यहीं पर वे गुस्ताव क़ुर्बे,जो यथार्थवाद की सैद्धान्तिकी को सचेतन तौर पर विकसित करने वाले पहले कलाकार थे, की कला से परिचित हुईं।

1884 में सत्रह साल की उम्र में वो बर्लिन के कला विद्यालय में दाखिला लेती हैं जहाँ वे एक स्विज़ कलाकार कार्ल स्टॉफर बर्न के मातहत प्रशिक्षण ग्रहण करती हैं। कॉलवित्ज़ ने अपने कलात्मक सृजन की शुरुआत एक चित्रकार बनने के उम्मीद के साथ किया था परन्तु कार्ल स्टॉफर बर्न उन्हें ड्राइंग व एचिंग के लिए लगातार प्रोत्साहित करते रहे। स्टॉफर बर्न उन्हें अपने एक करीबी मित्र मैक्स क्लींगर के एचिंग से परिचित कराते हैं। क्लिंगर की कलाकृतियों, उनके एचिंग के तरीकों व उनके विषयों में सामाजिक सरोकार को देखकर कॉलवित्ज़ उनसे काफी प्रभावित हुई थीं। आगे चलकर उनकी एचिंग व ड्राइंग में मैक्स क्लिंगर का प्रभाव देखने को मिलता है। हालाँकि कॉलवित्ज़ ने क्लिंगर की रचनाओं से परिचित होने के बाद भी तुरंत ही चित्रकला के अपने अध्ययन-प्रशिक्षण को त्याग नहीं दिया था, पर आगे चलकर 1888 में जब वे म्यूनिख़ में अपने अध्ययन को जारी रखने के लिए जाती हैं, तो वहीं उन्हें इस बात का अहसास होता है कि उनकी असली प्रतिभा पेंटिंग में नहीं बल्कि ग्राफ़िक मीडिया में है। और 1890 में वो एचिंग को गंभीरता से अपनी शैली के रूप में उभारती हैं और इस प्रकार उनकी प्रतिभा एक प्रिंटमेकर के रूप में उभर कर सामने आती है।

वास्तव में जर्मनी में आधुनिक प्रिंटमेकिंग का इतिहास क्लिंगर के साथ ही शुरू हुआ है। क्लिंगर चित्रकला या पेंटिंग को अपनी भावनाओं को उतारने के लिए एक सक्षम माध्यम नहीं मानते थे, उनका मानना था की पेंटिंग में कलाकार रंगों पर निर्भर होने के कारण दुनियावी प्रतीति से बंधा रहता है, जबकि ड्राइंग या एचिंग (एक प्रकार से मोनोक्रोमेटिक ड्राइंग) भावनाओं या विचारों को व्यक्त करने के लिए किसी बाह्य चीज़ से बँधा हुआ नहीं है। क्लिंगर के अनुसार प्रिंटमेकिंग या मोनोक्रोमेटिक ड्राइंग की एक मुख्य विशेषता यह है कि ये कलाकार की वैयक्तिकता (सब्जेक्टीविटी) को उसकी कला में उभरने का स्पेस देता है। अपने विषयों को सुशोभित करने या सुन्दर बनाने के कोशिश के बजाय यह शैली एक महत्वपूर्ण उपकरण के तौर पर इस्तेमाल की जा सकती है। प्रिंट का आसानी से पुनरुत्पादन भी किया जा सकता है, जिस कारण वो एक व्यापक आबादी तक पहुँचने की क्षमता रखता था। इन तमाम बातों से कॉलवित्ज़ प्रभावित होकर पेंटिंग को छोड़, सिर्फ ग्राफ़िक आर्ट में ही अपनी प्रतिभा को विकसित करती हैं। इस प्रकार इस माध्यम को चुनने के पीछे उनकी एक मंशा यह भी थी कि इसके ज़रिये वे आसानी से एक व्यापक आम मेहनतकश जनता तक अपनी बात अपनी कला के ज़रिये पहुँचा सकती थीं।

18 9 0 में कॉलवित्ज़ कोनिग्सबर्ग लौट आई और अपना पहला स्टूडियो किराए पर लिया। 1891 में कैथी कॉलवित्ज़ अपने मंगेतर कार्ल कॉलवित्ज़ के साथ शादी कर बर्लिन में बस गयीं। कार्ल से उनका संपर्क अपने युवावस्था के ही दिनों में हुआ था। कैथी के परिवार का सामाजिक जनवादी पार्टी के साथ संपर्क रहने से कार्ल कॉलवित्ज़ से भी सम्बन्ध स्थापित हुआ और यहीं से वे एक दूसरे से परिचित हुए थे। कैथी के पिता की तरह कार्ल की भी राजनीति में दिलचस्पी थी। कार्ल इस वक़्त तक एक डॉक्टर बन चुके थे और बर्लिन में ही एक मज़दूर बस्ती में उन्होंने एक क्लिनिक खोली थी, वहीं पर उन्होंने अपना घर भी बसा लिया। एक तरफ़ कार्ल की क्लिनिक और उसी से सटा हुआ कैथी का स्टूडियो भी था। यहीं से उनकी कला में एक नया बदलाव देखने को मिलता है। कैथी, जोकि बचपन से ही अपनी कलाकृतियों में शोषित उत्पीड़ित जनता को दिखाती आयीं थीं, उनका मज़दूरों के साथ या उनकी ज़िन्दगी के साथ कभी भी करीबी सम्पर्क नहीं रहा था। मज़दूर आबादी की ज़िन्दगी को करीब से जानने का मौका उन्हें तब ही मिला जब वे बर्लिन में बस गयीं। वहाँ कार्ल के क्लिनिक

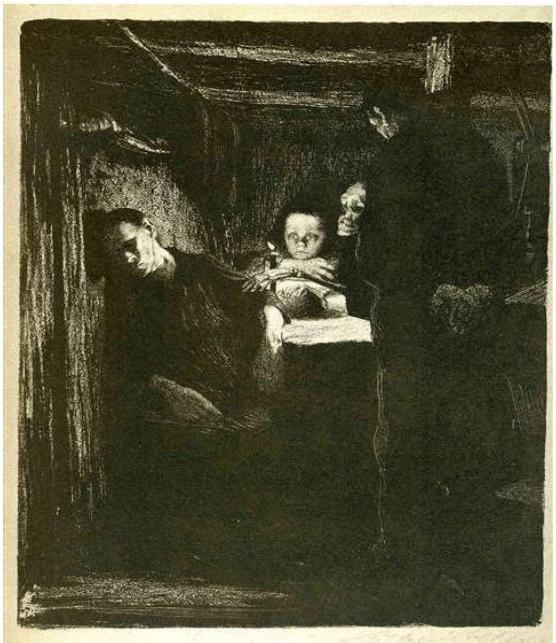

में ज़्यादातर मज़दूर आबादी से आने वाले मरीज़ होते थे, और यहीं कैथी मज़दूरों के दुःख व तकलीफों से और उनकी ज़िन्दगी की ज़द्दोज़हद से परिचित होती हैं। यहीं पर कैथी मज़दूरों की तकलीफों को बहुत गहरे से अनुभव करती हैं।

1898 में कॉलवित्ज़ का पहला सफ़ल काम जिसने उन्हें एक प्रिंटमेकर के तौर पर स्थपित कर दिया, वह थी उनकी प्रिंट सीरीज़ - 'बुनकरों का विद्रोह'। 1893 में गेहार्ट हॉप्टमैन द्वारा निर्देशित 'बुनकरों का विद्रोह' नामक नाटक से प्रभावित होकर ही कैथी ने इसे अपने कला का विषयवस्तु बनाया। यह नाटक एक ऐतिहासिक घटना पर आधारित नाटक है। जून 1844 में आर्थिक मंदी के दौरान सिलीसिया के प्रशा प्रान्त में बड़ी संख्या में बुनकरों ने विद्रोह कर दिया, उन्होंने गोदामों पर हमला कर दिया, मशीनों को तहस-नहस कर दिया। इस विद्रोह को दबाने के लिए प्रशियाई सेना वहाँ पहुँचती है और बेरहम तरीके से मज़दूरों की भीड़ पर गोलियाँ चलाती है जिसमें 11 लोगों की मौत हो जाती है और कई लोग घायल होते हैं। विद्रोह में नेतृत्व देने वाले लोगों को गिरफ्तार कर लिया जाता है और उन्हें फाँसी और कैद की सजा सुना दी जाती है। कार्ल मार्क्स ने इस विद्रोह के बारे में चर्चा करते हुए कहा था कि यह विद्रोह जर्मनी में मज़दूर आन्दोलन की शुरुआत को चिन्हित करता है। हॉप्टमैन का यह नाटक कैथी के कलात्मक सृजन में एक मील का पत्थर साबित होता है। नाटक से बेहद प्रभावित हो कर कैथी अगले पाँच साल तक 'बुनकरों का विद्रोह' नामक अपनी प्रिंट श्रृंखला में इस विद्रोह को अपने चित्रों के ज़रिये दर्शाने का काम करती हैं। श्रृंखला में पहला 3 भाग (ग़रीबी, मृत्यु, षड्यंत्र) लिथोग्राफ है और आखरी तीन (बुनकरों का मार्च, मालिकों के गेट पर हमला, अन्त ) एचिंग है।

पहला लिथोग्राफ़ एक ऐसे कमरे को चित्रित करता है जिसमे एक कुपोषित बच्चा बिस्तर में सो रहा है और उसकी माँ जीर्ण हाथों से निराशा में डूबे हुए अपने माथे को थामे बैठी है। माता पिता की अपने बीमार बच्चे पर स्थित चिन्ता भरी नज़र उनके दर्द को दर्शाती है। पहले और दूसरे लिथोग्राफ़ में हमें साफ़ देखने को मिलता है की कैथी ने मज़दूरों के दुःख व दुर्दशा को बहुत गहरे से अनुभव किया है। दोनों ही लिथोग्राफ़ में गरीबी, कुपोषण और बेरोज़गारी से बेहाल मज़दूरों की जीर्ण शरीर संरचना को उन्होंने बखूबी उकेरा है। गरीबी और बेरोज़गारी का मजदूरों और उनकी ज़िन्दगी पर क्या प्रभाव पड़ता है, कैथी ने इसका बहुत ही हृदयविदारक चित्रण किया है। पर यहाँ ये चित्र दर्शक में सिर्फ दया या करुणा की भावना नहीं बल्कि शोषण के खिलाफ विद्रोह की भावना को भी प्रबल करने का काम करता है। कुपोषण के कारण बच्चे की मौत होने पर क्रोध और प्रतिशोध की भावना से उत्तेजित बुनकरों ने एक सभा का आयोजन किया है, जिसका चित्रण अगले लिथोग्राफ़ में किया गया है। इसकी अगली कड़ी में मज़दूरों की इस भावना को विद्रोह का रूप देते हुए चित्रित किया गया है जिसमे वे कारखाना मालिकों के गेट की तरफ मार्च करते हुए दिखाई देते हैं और उनपर हमला बोल देते हैं।

सेना के दमन के पश्चात इस विद्रोह का अन्त मजदूरों में निराशा या पस्तहिम्मती के तौर पर नहीं होता। श्रृंखला की अन्तिम एचिंग में जब कुछ मज़दूर दमन में मारे गये मज़दूरों की लाशों को ला रहे होते हैं, तो दरवाज़े पर मौजूद एक महिला को चित्रित किया गया है, जिसका माथा व्यथा से झुका हुआ है लेकिन फिर भी उसकी मुट्ठियाँ तनी हुई हैं जो इस बात का परिचायक हैं कि क्रोध और प्रतिरोध की भावना अभी ख़त्म नहीं हुई है। वह भावना कहीं बीज रूप में अन्दर मौजूद रहती है और सीमाएँ

पार करने पर विद्रोह का रूप ले सकती है। कैथी की इस प्रिन्ट श्रृंखला को बर्लिन के एक प्रदर्शनी में स्वर्ण पदक के लिए चुना गया था लेकिन प्रशा के राजा केसर विलियम द्वितीय ने इसे 'गटर आर्ट' कहकर इसपर अपनी अस्वीकृति दे दी। यह श्रृंखला अपने आप में कॉलवित्ज़ के लिए बहुत महत्वपूर्ण साबित हुई। उनकी यह प्रिंट सीरीज़ सबसे व्यापक तौर पर ख्याति पाती है। हालाँकि यह श्रृंखला नाटक के आधार पर बनायी गयी थी जो कि एक ऐतिहासिक घटना पर आधारित था लेकिन चित्र श्रृंखला आम तौर पर मज़दूरों की दयनीय स्थिति और ज़िन्दगी के हालात पर केंद्रित थी और ऐसी परिस्थितियों के खिलाफ विरोध को चित्रित करती है। अपनी इस चित्र श्रृंखला की सफलता ने कॉलवित्ज़ को प्रोत्साहित किया और उसके बाद की दस सालों की अवधि में उन्होंने कुछ बेहतरीन चित्र बनाये जिसमे प्रमुख तौर पर चित्र श्रृंखला 'किसान युद्ध' व्यापक ख्याति पाता है। इस श्रृंखला को बनाने में वे 1902 से 1908 तक व्यस्त रहीं। हालाँकि यह भी 1522 -1525 के जर्मनी के किसान विद्रोह की एतिहासिक घटना पर आधारित था। पर फिर भी इस श्रृंखला में क्रान्ति के चरणों को काल्पनिक रूप से दर्शाया गया था। किसानों की काम करने की अमानवीय परिस्थितियों के खिलाफ और ज़मींदारों के शोषण के खिलाफ फूटा यह विद्रोह 1789 की पूँजीवादी क्रान्ति होने से पहले, यूरोप का सबसे बड़ा और व्यापक किसान विद्रोह था।

कॉलवित्ज़ ने इस श्रृंखला में सात चित्र बनाये हैं जिसे एक क्रम में बैठाने की कोशिश की है। किसानों पर किये गये अत्याचार व शोषण पर केन्द्रित करते हुए श्रृंखला के पहले चित्र में मनुष्यों को जानवरों की तरह खटाया जाना प्रदर्शित किया गया है, फिर सामन्ती प्रभु द्वारा एक किसान महिला का बलात्कार, उसके बाद किसान विद्रोह की तैयारी की तस्वीर और फिर किसान विद्रोह का उभार और अन्त में सामन्ती सत्ता द्वारा दमन के बाद उनकी हार और विद्रोही किसानों का बन्दी बना लिया जाना। तस्वीरों की इस श्रृंखला में किसान विद्रोह के उभार को जब चित्रित किया गया है, तो उसमें किसानों को महज़ एक भीड़ के रूप में नहीं दिखाया गया है, बल्कि उसमें प्रत्येक व्यक्ति के तस्वीर को इस रूप में उभारने की कोशिश की गयी है कि हर एक किसान की विद्रोह में सचेतन भागीदारी को, उनके चेहरे और भाव-भंगिमा के ज़रिये दिखाया जा सके।

इस एचिंग में एक नग्न आकृति भी है, जो क्रान्ति के रूपक के तौर पर इस्तेमाल की गयी है, किसानों को ललकारती प्रतीत होती है। इसकी अगली ही कड़ी में किसानों का मार्च दिखाया गया है जिसे एक ऐतिहासिक पात्र ब्लैक एना नेतृत्व देती हैं। इस चित्र में भी कॉलवित्ज़ ने कहीं भी शोषकों को चित्रित नहीं किया है। उनके चित्रों की आम तौर पर एक यह विशेषता रही है कि उनमे शोषक शक्तियाँ कहीं उपस्थित नहीं दिखतीं परन्तु जनता पर उनके शोषण और अत्याचार के गहरे घाव दीखते हैं और इसी प्रकार अप्रत्यक्ष तरीके से ही कॉलवित्ज़ अपने दर्शक के मन में प्रतिरोध की भावना को जन्म देती हैं। जब इस श्रृंखला को 1908 में जारी किया गया था तो उसने पूरे यूरोप में कॉलवित्ज़ को सबसे महत्वपूर्ण ग्राफिक कलाकारों के रूप में

स्थापित कर दिया।

इसी दौर में कॉलवित्ज़ ने अपने मृत बच्चे की मौत पर विलाप करती माँ की एक हृदयविदारक तस्वीर बनायी। यह उनके पूरे जीवनकाल की सबसे शक्तिशाली तस्वीरों में से एक है। इसमें उन्होंने किसी को खोने के दुःख को बहुत ही गहरे से अनुभव किया है। तस्वीर को देख उनके एक दोस्त बोनस जीप इस प्रकार स्तब्ध रह गये कि उन्हें लगा कि कहीं उनके बेटे के साथ कोई दुर्घटना न घटी हो। उस तस्वीर को जीप ने इस रूप में वर्णित किया "एक माँ, पशु जैसी निरावरण, जाँघों और बाँहों में अपनी मृत सन्तान की रक्तशून्य शव को समेटी हुई, अपनी आकुल आँखों से,अपने होठों से, अपनी साँसों से उस लुप्त होती हुई जान को जो कभी उसी के गर्भ में पला था, वापस अपने अन्दर निगल जाना चाहती है।" अपने इस अभूतपूर्व चित्र में चेहरे की भावना को उभारने के बजाय उन्होंने पूरी आकृति को ही मार्मिक और भावात्मक बना दिया। यहाँ इस चित्र में कॉलवित्ज़ अपने विषय से हटकर खुद को अनावश्यक विवरण में खोने की अनुमति नहीं देती हैं और सिर्फ उसी आकृति को उभारती हैं जिसे वे दिखाना चाहती हैं। चित्र के पीछे की पृष्ठभूमि पर कोई काम नहीं करती। यह भी उनके चित्रों की एक विशेषता है जो हम उनकी ज़्यादातर कलाकृतियों में देख सकते हैं।

1908-09 तक सचेतन रूप से वे अपनी कला को समाज को बदलने के उपकरण के तौर पर महसूस करने लगती हैं। और अपनी कला को समाज को बदलने के उपकरण के तौर पर जैसे-जैसे वे इस्तेमाल करती जाती हैं, वे एचिंग से हटकर लिथोग्राफी को अपने इस्तेमाल में लाती है। इसके बाद 1909 से कॉलवित्ज़ ने कलाकारों द्वारा संचालित एक राजनीतिक व्यंग्यात्मक पत्रिका 'सिम्पलीसिसमस' (Simplicissimus) में अपना योगदान देना शुरू किया। इससे कई कलाकार जुड़े हुए थे जिसमें हरमॅन हेसे, थॉमस थियोडोर हाइने, गुस्ताव मेर्रिंक, यैकॉब वासरमैन, हाईनरिष क्ले, अल्फ्रेड कुबिन, रॉबर्ट वाल्सर, हाईनरिष त्ज़िले, हाईनरिष मॅन और एरिश केस्टनर आदि जैसे लोग शामिल थे।

कॉलवित्ज़ जब एक नये दृष्टिकोण से चीज़ों को अपनी कला में विकसित कर रहीं थी, तो वे कला के उद्देश्य को अपनी शैली के साथ भी जोड़ रहीं थीं। इसके बाद के कालों में देश और विश्व स्तर पर घट रही घटनाओं ने कॉलवित्ज़ को गंभीर रूप से अपने कला के उद्देश्य पर विचार करने के लिए मजबूर कर दिया। जर्मनी में बिस्मार्क के काल में 1880 के दशक से औपनिवेशिक विस्तार की शुरुआत और फिर केसर विलियम द्वितीय की 1890 की विस्तारवादी नीतियों के कारण ब्रिटेन, रूस और जापान के साथ टकराव की स्थिति पैदा होने लगी थी। बिस्मार्क के एंटी सोशलिस्ट लॉज़ के वापस लिये जाने के बाद सोशल डेमोक्रेटिक पार्टी (एसपीडी) पर बैन हटा दिया गया। 1900 के दशक के बाद, एसपीडी जर्मनी के मज़दूर आन्दोलन में एक नेतृत्वकारी भूमिका के रूप में उभरने लगा था। 1912 में चुनाव में 35% राष्ट्रीय वोट और संसद में 110 सीटों को हासिल करते हुए, एसपीडी जर्मनी में सबसे बड़ी राजनीतिक पार्टी के रूप में उभरी। सन 1900 में विश्व स्तर पर पूँजीवादी होड़ व प्रतिस्पर्धा के दौर में उपनिवेशों के बँटवारे के लिए साम्राज्यवादी देशों द्वारा जनता पर पहला विश्व युद्ध को थोपा गया। युद्ध के इस दौर में एसपीडी ने टटपूंजिया राष्ट्रवादी सोच से प्रस्थान करते हुए राजशाही सत्ता के साथ अपने मतभेदों को समाप्त कर युद्ध में उसकी सहायता करने की नीति अपनायी। 2 दिसम्बर 1914 में संसद में एकमात्र लिबनेख्त ही थे जिसने साम्राज्यवादी युद्ध सन्धियों के ख़िलाफ़ वोट किया था। कॉलवित्ज़ के पिता पहले से ही एसपीडी से जुड़े हुए थे। हालाँकि खुद कॉलवित्ज़ किसी पार्टी या संगठन से नहीं जुड़ीं पर तब भी जर्मनी की सामाजिक जनवादी पार्टी से सहानुभूति रखती थीं। और शायद यही कारण रहा होगा कि उन्होंने अपने बेटे पीटर को सेना में भर्ती होने की अनुमति दे दी। इसके दो ही महीने के भीतर पीटर की युद्ध में मृत्यु हो गयी। कॉलवित्ज़ के लिए यह एक बड़ा सदमा था

और इस घटना ने उनके कलात्मक सृजन को बहुत प्रभावित किया। उन्होंने खुद स्वीकारा कि 1914 में उन्होंने अपने बेटे को सेना में जाने से रोकने की कोशिश नहीं की क्योंकि तभी उनका मानना था कि "जर्मनी सही रास्ते पर था और अपनी रक्षा करने का उसे पूरा हक़ था। अपनी पितृभूमि की रक्षा के लिए उन्होंने या उनके बेटे ने जो किया, वह सही किया व देश के हित के लिए किया। राजनीतिक तौर पर सही समझदारी न होने और सामाजिक-जनवादी पार्टी द्वारा अपनायी गयी युद्ध में राजशाही के समर्थन की नीति को देखते हुए कॉलवित्ज़ को अपना फ़ैसला सही लगा था। परन्तु 1917 तक, कॉलवित्ज़ ने युद्ध के बारे में अपना विचार बदल दिया था: " यह महसूस करते हुए कि शुरुआत से हमें धोखा दिया गया था। और शायद पीटर अभी भी जीवित रहता, यदि हमारे साथ यह भयानक विश्वासघात नहीं किया गया होता। पीटर और लाखों, और लाखों अन्य लड़कों सभी को धोखा दिया गया।" यह साफ़ था कि सामाजिक जनवादी पार्टी द्वारा जनता को धोखा दिया गया था और सर्वहारा क्रान्ति के साथ भी विश्वासघात किया गया था। पीटर की मृत्यु के बाद युद्ध के भयावह परिणाम से आम जनता को जो दुःख व तकलीफ़ सहने पड़े, यह कॉलवित्ज़ की कला का एक केंद्रीय विषय बन गया। उसके बाद से, उनके चित्रों में हम माँओं द्वारा अपने बच्चों की रक्षा करने, उनके अस्तित्व के लिए लड़ने  आदि तस्वीर पाते हैं। उनके युद्ध विरोधी चित्रों में बाकि कलाकारों से हटकर एक विशेष चीज़ हम यह पाते हैं कि वे युद्ध में हुई भौतिक क्षति को नहीं बल्कि आम घरों की महिलाओं व बच्चों पर पड़े प्रभाव को दर्शाती हैं।

विश्व युद्ध की शुरुआत के साथ ही, सामाजिक जनवादी पार्टी का एक धड़ा, उसकी जर्मन राजशाही के साथ समर्थन की नीति का विरोध करने लगा था। इनमें लिबनेख्त और रोज़ा लग्ज़ॅमबर्ग प्रमुख थे। उन्होंने कहा था कि यह युद्ध जर्मनी या किसी भी देश की जनता के हित में नहीं हो रहा बल्कि यह एक साम्राज्यवादी युद्ध है, जो विश्व बाजार के पूँजीवादी नियंत्रण के लिए किया जा रहा है, विशाल क्षेत्रों के राजनीतिक प्रभुत्व के लिए और औद्योगिक और बैंकिंग पूँजी के विस्तार के लिए किया जा रहा है। एस.पी.डी. द्वारा निकाल दिए जाने पर लिबनेख्त और रोज़ा लग्ज़ॅमबर्ग ने जनवरी 1916 में स्पार्टकस लीग की स्थापना की। उन्हें जर्मनी के युद्ध में भागीदारी के विरोध में प्रदर्शन करने के जुर्म में 1916 में गिरफ़्तार कर लिया गया और 1918 तक कैद में रखा गया। युद्ध अभी थमा नहीं था पर जर्मनी हार के कगार पर था, तभी 1918 के अन्त में जर्मन नौसेना की इकाइयों ने कीव के बन्दरगाह पर हो रहे युद्ध में आखिरी और बड़े पैमाने पर ऑपरेशन के लिए सेल करने से इनकार कर दिया। इसके बाद कीव में एक आम हड़ताल शुरू हो गयी। विश्व युद्ध से भयानक तबाही झेलने और बड़े पैमाने पर बेरोज़गारी, कुपोषण और बदहाली झेलने के कारण आम मेहनतकश आबादी में भयंकर असन्तोष था। नवम्बर की शुरुआत होते होते यह विद्रोह देश के अन्य शहरों और राज्यों में भी फैल गया जिसके बाद से कई मज़दूरों और सैनिकों की परिषदों की स्थापना हुई। कैथी ने भी इस विद्रोह का समर्थन किया और मज़दूरों और कलाकारों की परिषद् बनाने में मदद की। उन्होंने '1918 की क्रान्ति' नाम से एक चारकोल स्केच भी बनाया था।

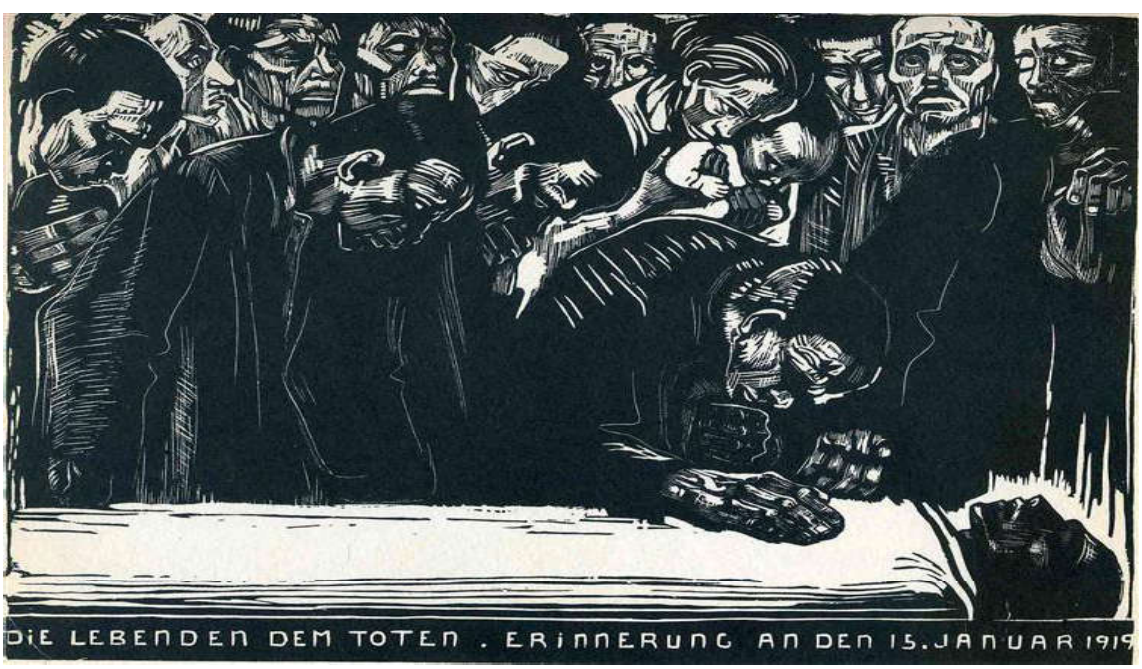

कीव की कॉउन्सिलों में सामाजिक जनवादी पार्टी की ही नेतृत्वकारी भूमिका थी परन्तु रूस की तरह मज़दूरों के सोवियतों की सत्ता स्थापित करने के बजाय सामाजिक जनवादियों ने क्रान्ति के साथ विश्वासघात किया। हिण्डनबर्ग और सेना के वरिष्ठ कमाण्डरों ने जब कैसर और उनकी सरकार में विश्वास खो दिया और कैसर ने जब अपनी सत्ता त्याग दी, तब 9 नवम्बर 1918 को, फिलिप शिडेमान ने गणराज्य की घोषणा की और एबर्ट को चांसलर का पद सौंपा गया। इस वक़्त तक लक्ज़मबर्ग को जेल से रिहा कर दिया गया था। सामाजिक जनवादियों ने जनवरी 1919 में नेशनल असेंबली के लिए चुनाव की घोषणा करवा दी। स्पार्टकस लीग 1918 के अन्त तक खुद को जर्मनी की कम्युनिस्ट पार्टी में संगठित कर चुकी थी। सामाजिक जनवादियों द्वारा समाजवादी क्रान्ति के साथ विश्वासघात करने के बाद कम्युनिस्ट पार्टी ने जनवरी 1919 में स्पार्टिसिस्ट उभार को अंजाम दिया। उन्होंने बर्लिन में आम हड़ताल का आह्वान किया और करीब 5 लाख मज़दूर इसके समर्थन में उतरे। इसके बाद सामाजिक जनवादी पार्टी के नेतृत्व में चांसलर फ्रेडरिक एबर्ट ने फ्राईकॉर्प्स की मदद से मज़दूरों के विद्रोह को निर्मम तरीके से कुचल दिया। आम हड़ताल करने और सामाजिक जनवादी सरकार का तख्तापलट करने की कोशिश के जुर्म में रोज़ा लक्ज़म्बर्ग और लिबनेख्त को गिरफ्तार कर लिया गया और उन्हें हिरासत में ही मरवा दिया गया।

लिबनेख्त की क्रूर हत्या के बाद आम मज़दूरों में गहरा रोष व क्षोभ था। कॉलवित्ज़ ने लिबनेख्त की मौत पर आम मज़दूरों के दुःख को महसूस करते हुए उनके स्मरण में एक तस्वीर बनायी। तस्वीर में लिबनेख्त की मौत और विद्रोह के कुचल दिए जाने के बाद मज़दूरों में फैली गहरी निराशा को चित्रित किया गया है। पहले विश्व युद्ध और उसके बाद जर्मनी की 1918 का क्रान्तिकारी उभार, इस पूरे उथल-पुथल भरे दौर ने कॉलवित्ज़ को प्रभावित किया। 1919 के बाद से उन्होंने युद्ध की विभीषिका को ही अपना विषयवस्तु बनाया। युद्ध श्रृंखला में कई पोस्टर्स व वुडकट बनाये गये जिसमें युद्ध की त्रासदियों को माताओं व बच्चों के परिप्रेक्ष्य से दिखाने की ज़्यादा कोशिश की गयी। इसका एक कारण युद्ध में उनके बेटे पीटर की मृत्यु का होना भी था। त्रासदी के इस काल में अपने विषयों के लिए फॉर्म की तलाश करते हुए कैथी एर्न्स्ट बारलाख़ के वुडकट कलाकृति से परिचित होती हैं और उससे प्रभावित होतीं हैं। उनकी इस दौर की कलाकृतियों में हमें बारलाख़ का प्रभाव साफ़ देखने को मिलता है। 1920-23 के बीच वुडकट शैली में ही वो युद्ध श्रृंखला का सृजन करती हैं। इस श्रृंखला में युद्ध की तबाही को चित्रित किया गया है, जिसमे विधवाओं, भुखमरी से दम तोड़ते बच्चों, बच्चों की कुर्बानी करती माँओं, युद्ध में मारे गये लोगों और उनके परिवार वालों की व्यथाओं को दर्शाते हुए कई चित्र हमें मिलते हैं। इसी दौर में हम देख पाते हैं कि कॉलवित्ज़ की कलाकृतियों के विषय और फॉर्म में किस प्रकार बदलाव आते हैं। शुरुआत की 'किसान युद्ध' और 'बुनकरों के विद्रोह' की अपनी श्रृंखला से कॉलवित्ज़ काफ़ी आगे निकल चुकी होती हैं और अब उनके विषय उनके समकालीन त्रासदी भरे समय को चित्रित करते हैं और साथ ही उनके प्रत्यक्ष अनुभवों व चिंताओं को प्रतिबिम्बित करते हैं।

युद्ध के बाद के काल में, 1919 में कॉलवित्ज़ अल्बर्ट आइंस्टीन, जॉर्ज ग्रोस, मैक्सिम गोर्की, जॉर्ज बर्नड शॉ, क्लारा जेटकिन, अर्न्स्ट टोलर आदि के साथ इंटरनेशनल वर्कर्स ऐड संगठन में शामिल हो गयीं। युद्ध के बाद पैदा हुए खाद्यान संकट, बेरोज़गारी और महँगाई जैसी कई समस्याओं से लोग जूझ रहे थे। कॉलवित्ज़ ने संगठन के लिए कई ऐसे पोस्टर बनायें जिसमें भुखमरी के अंजाम को दिखाते हुए मौत का एक कंकाल चित्र, भूख से बेहाल महिलाओं व बच्चों के दृश्य को हम पाते हैं। उन्होंने इसके अलावा 'विएना इज़ डाईंग, हेल्प हर चिल्ड्रन' (विएना मृत्यु के कगार पर है, उनके बच्चों को बचाओ), 'हेल्प रशिया' (रूस की सहायता करो), 'नेवर अगेन वार' (अब और युद्ध नहीं), 'ब्रॉट' (रोटी) आदि पोस्टर भी बनाये। हालाँकि राजनीतिक मामलों में उनकी कोई स्पष्ट समझ नहीं थी, कई संगठनों के लिए उन्होंने पोस्टर बनाये थे परन्तु किसी भी राजनीतिक पार्टी या संगठन की सक्रिय सदस्य नहीं बनी। उनका दृष्टिकोण एक मानवतावादी दृष्टिकोण था।

इस दौर में कॉलवित्ज़ जब अपनी ज़्यादातर कलाकृतियों को पोस्टर का रूप दे रही थीं, किस प्रकार वे अपनी कला को पूर्ण रूप से सामाजिक ज़िम्मेदारी से जोड़ती हैं, यह उनके इस कथन से देखने को मिलता है -"मुझे अन्तरराष्ट्रीय व्यापार संघ कांग्रेस से युद्ध के खिलाफ एक पोस्टर बनाने के लिए नियुक्त किया गया है। यह एक ऐसा काम है जो मुझे खुश करता है। कुछ लोग भले ही कह सकते हैं कि यह शुद्ध कला नहीं है। लेकिन जब तक मेरे पास प्रतिभा है और जब तक मैं काम कर सकती हूँ, मैं अपनी कला के ज़रिये प्रभावी होना चाहती हूँ।" 1918 के बाद से कला के क्षेत्र में 'शुद्ध कला' और 'वास्तविक कला' के सवाल पर बहसें उठीं थी। जर्मनी में, खास तौर पर एक्सप्रेशनिस्ट कलाकारों द्वारा प्रगतिशील कला को प्रगतिशील राजनीति के साथ जोड़ा जाने लगा था। कॉलवित्ज़ ने कला कला के लिए जैसे दृष्टिकोण को साफ़ तौर पर ख़ारिज किया था और कलाकार की सामाजिक ज़िम्मेदारी पर बल दिया था।

प्रथम विश्व युद्ध से उपजी तबाही और उसके बाद हुई वर्साय की सन्धि ने जर्मनी को तबाह कर दिया था। पहले से ही जर्मनी की तबाह अर्थव्यवस्था को जब 1929 की मंदी के

दौर का सामना करना पड़ा और तो इस दौरान खाद्यान संकट, बेरोज़गारी, गरीबी और महँगाई बेहिसाब स्तर से बढ़ी। 1919 से 1931 तक वाइमर गणराज्य में सामाजिक जनवादियों ने मजदूरों के लिए जो भी हक़ अधिकार हासिल किये थे, उसे मन्दी के दौर में बरकरार रख पाना सम्भव नहीं था। बड़े पूँजीपति वर्ग की मुनाफे की दर में लगातार कमी होती जा रही थी। ऐसे में, मजदूर आन्दोलन की शक्ति को खण्डित कर अपनी सबसे प्रतिक्रियावादी नग्न व क्रूर तानाशाही को लागू करने के लिए जर्मनी के बड़े पूँजीपति वर्ग को जिस राजनीतिक समूह की ज़रूरत थी, वह थी नात्सी पार्टी। 1933 के चुनाव के बाद हिटलर जब सत्ता में आया तो उसने इस काम को बखूबी अंजाम दिया। सामाजिक जनवादियों की गद्दारी ने फासीवाद को पैर पसारने की जगह दे दी।

फासीवादी दौर में कलाकारों, वैज्ञानिकों, अल्पसंख्यकों, सामाजिक जनवादियों, वामपन्थी व कम्युनिस्टों के आवाज़ों को दबाया गया और इसी दौर में कॉलवित्ज़ जिनके कला की लोगों में एक व्यापक पहुँच थी, उन्हें नात्ज़ियो ने प्रशा की कला अकादमी से इस्तीफ़ा देने को मजबूर कर दिया और अपनी कलाकृतियों की प्रदर्शनी लगाने पर भी रोक लगा दी। उनकी जो भी कलाकृतियाँ संग्रहालयों व कला प्रदर्शनियों में थी, उन्हें हटा दिया गया। कॉलवित्ज़ भले ही प्रत्यक्ष तौर पर फ़ासीवाद के खिलाफ लड़ाई में नहीं उतरीं लेकिन वो लगातार नात्ज़ी पार्टी की आलोचना करती रही। उन्होंने फासीवाद से मुकाबला करने के लिए सामाजिक जनवादी पार्टी और कम्युनिस्ट पार्टी की एकता का आह्वान देते हुए एक सार्वजनिक घोषणापत्र के बनने में मदद भी की थी। एक बार एक रूसी पत्रकार को साक्षात्कार दिये जाने के बाद गेस्टापो द्वारा उन्हें गिरफ्तार भी किया गया था लेकिन बाद में छोड़ दिया गया। अपने इस दौर में उनकी ज़्यादातर कलाकृतियों का विषय मृत्यु ही बना रहा। 1937 में उन्होंने तीन लिथोग्राफ और बनाये, इन छवि चित्रों में मृत्यु समाज के सबसे कमजोर लोगों, गरीब महिलाओं और बच्चों को अपनी जकड़ में लेती प्रतीत होती है। ये छवि चित्र शायद जर्मनी में फासीवाद के दौर की भयावह परिस्थितियों को ही चित्रित करते हैं, इनमें एक निराशा भी नज़र आती है या फिर उस वक़्त की भयावहता को मौत के रूपक से दर्शाया गया है। दूसरा विश्व युद्ध समाप्त होने से कुछ दिन पहले कोल्विट्ज़ की मृत्यु हो गयी। उन्होंने हमें अपने दिक् व काल में घटने वाली भयानक घटनाओं की अविस्मरणीय छवियों के साथ छोड़ा है। उनकी कला ने हमेशा शोषित जनता का साथ दिया। शुरू के दौर में उनकी कलाकृतियाँ ऐतिहासिक घटनाओं और साहित्यिक चरित्रों से प्रेरित होकर रूप ग्रहण करती हैं। बाद के दौर में प्रथम विश्व युद्ध, फिर 1918 की जर्मनी की क्रान्ति, और उसके बाद जर्मनी में फासीवादी उभार - इन घटनाओं का प्रत्यक्ष प्रभाव हम उनके चित्रों में पाते हैं। उनके निजी अनुभव भी इस दौर की उनकी कला में प्रतिबिम्बित होते हैं। अपने दौर के तमाम घटनाओं को कॉलवित्ज़ इस प्रकार चित्रित करती हैं कि वे अपनी ऐतिहासिकता नहीं खोते। उनकी कला किसी स्थान या काल तक सीमित नहीं रह सकती। लेकिन कॉलवित्ज़ ने शुरू से ही अपनी विषयों में मज़दूर वर्ग को जगह दी है। समय के साथ उनके विषयों में बदलाव होते हैं, उनके फॉर्म में भी बदलाव देखने को मिलता है। शुरुआत में एचिंग, फिर लिथोग्राफी और 1918 के बाद वुडकट शैली को इस्तेमाल में लाना- वे लगातार अपने विषय के साथ फॉर्म के तालमेल को विकसित करती जाती हैं। हम उनके विषयों के साथ उनके फॉर्म का बेहतरीन तालमेल पाते हैं। उनके सभी चित्र मार्मिक व हृदयविदारक हैं। \उनके सभी चित्रों में हमें विलाप और हाहाकार दिखाई देता है, पर यह उनके प्रतिरोध की शैली है। उनके चित्रों में लोगों का आर्तनाद, दर्शक के मन में विलाप नहीं विरोध का संचार करता है। एक तरफ जनता की दुर्दशा की तस्वीर मन में गहरी ममता व आत्मीयता को जन्म देती है, लेकिन दूसरी तरफ यह शोषक व अत्याचारी के प्रति घृणा और क्रोध भी पैदा करती है। यही उनके चित्रों की खासियत है जो उनके कला को एक रैडिकल कला के रूप में स्थापित करती है। उनकी कला शायद इस दृष्टिकोण से एक सर्वहारा कला है कि वे अपनी कला को एक सरल रूप में प्रस्तुत कर बड़ी आबादी तक पहुँचने की क्षमता रखती हैं। जैसा कि उन्होंने एक बार कहा था कि "यह मेरा पूर्णतः मत है कि एक कलाकार और जनता के बीच समझदारी होनी चाहिए। एक जीनियस आगे बढ़ सकता है, नये रास्ते ढूंढ सकता है, परंतु एक अच्छा कलाकार वह है जो ,हालांकि जीनियस से पीछे है, जनता से खोया हुआ संबंध जोड़ सकता है। स्टुडियो कला फलहीन है और असमर्थनीय है क्योंकि जो ज़िंदा जड़ें नहीं पैदा कर सकती उसे अस्तित्वमान ही क्यों होना चाहिए?"

●

## आह्वान यहाँ से प्राप्त करें

**उत्तर प्रदेश** : • जनचेतना, 114, जनता मार्केट, रेलवे बस स्टेशन रोड, गोरखपुर • जनचेतना, डी-68, निराला नगर, लखनऊ • जनचेतना स्टॉल, कॉफ़ी हाउसके पास, हजरतगंज, लखनऊ (शाम 5 बजे से 8-00 तक) • प्रोग्रेसिव बुक स्टॉल, विश्वनाथ मन्दिर गेट, बीएचयू वाराणसी • विशाल विक्रम सिंह रूम नं-310 बिड़ला हॉस्टल-बी, बीएचयू वाराणसी • कुँवर सन्दीप कुमार सिंह-कुसुमविला, कॉलेज रोड़, मन्दिर लेन, उन्नाव

**दिल्ली** : • अभिनव सिन्हा, बी-100, मुकुन्द विहार, करावल नगर • पी.पी.एच., जे.एन.यू. • गीता बुक सेण्टर, जे.एन.यू. • हेम बुक सेण्टर, जे.एन.यू. • सेण्ट्रल न्यूज एजेंसी, कनॉट प्लेस, • पी.पी. एच. बुकशॉप कनॉट प्लेस.

**बिहार** : • विक्रान्त कुमार, द्वारा- हीरालाल, कुट्टी मशीन गली, गोसाईं टोला, पाटलिपुत्र कॉलोनी, पटना-800013 • श्री रामनारायण राय (शिक्षक), प्रोफ़ेसर कॉलोनी, सी.एन. कॉलेज साहेबगंज, पो- करनौल, जिला मुजफ्फरपुर • डॉ. गिरिजाशंकर मोदी, शब्दसदन, सिकन्दरपुर, मिरजानहाट, भागलपुर • प्रगतिशील साहित्य सदन, पटना कालेज गेट के सामने, अशोक राजपथ, पटना • श्री चन्द्रेश्वर, एल.एच. 3/8, हाउसिंग कॉलोनी, चन्दवा, आरा, जिला-भोजपुर • सन्तोष ओझा द्वारा रघुनाथ ओझा, शिवचन्द्र पथ, काली मन्दिर रोड, हनुमान नगर, कंकड़ बाग, पटना • रामप्रवेश कुमार, ग्राम व पोस्ट-रूस्तमपुर (बेलदारी पर) थाना, हुलासगंज, भाया-ईस्लामपुर, नालन्दा

**राजस्थान** : • चन्द्रशेखर, लोकायत प्रकाशन, 883, लोधो की गली, एम.डी. रोड, जयपुर • ओ.पी. गुर्जर, 137, गोल्फ़ कोर्स स्कीम, एयर फ़ोर्स, जोधपुर

**हरियाणा** : • डॉ. सुखदेव हुन्दल, ग्राम व पोस्ट सन्तनगर वाया जीवन नगर, सिरसा • शहीद-ए-आज़म लाईब्रेरी, गोल मार्केट, हाऊसिंग बोर्ड कॉलोनी रेलवे रोड़, नरवाना, जिला-जीन्द • हैप्पी बुक डिपो, स्टूडेण्ट एक्टिविटी सेण्टर, महर्षि दयानन्द विश्वविद्यायल, रोहतक

**महाराष्ट्र** : • पीपुल्स बुक हाउस, मेहरजी हाउस, 15, कावसजी पटेल स्ट्रीट फ़ोर्ट, मुम्बई • खन्ना जी, विश्वभारती प्रकाशन, धनवते चैम्बर्स, सीतावर्दी, नागपुर • शहीद भगतसिंह पुस्तकालय, रूम नं.: 103, बिल्डिंग: 61-ए, लल्लूभाई कम्पाउण्ड, मानखुर्द, मुम्बई (पश्चिम) • गोपाल नायडू कौशल्या अपार्टमेण्ट चूना भट्टी, अजनी रोड, नागपुर • हर्ष ठाकोर, हरबंश, चतुर्थ तल, नूतन लक्ष्मी सोसायटी, 8 जी रोड, जूहू विले पारले डेब्लपमेण्ट स्कीम, मुम्बई

**पंजाब** : • जनचेतना, दुकान नं-8, पंजाबी भवन, लुधियाना • मज़दूर पुस्तकालय, मकान नं-4135, ई-डब्ल्यू.एस. कालोनी, दयाल पब्लिक स्कूल के सामने, ताजपुर रोड, लुधियाना • शहीद भगत सिंह भवन, सोलोआणी रोड, नजदीक टाहली आणा साहिब गुरूद्वारा, रायकोट, लुधियाना • शहीद भगतसिंह पुस्तकालय, मण्डी गोबिन्दगढ़ • पंजाब बुक सेण्टर, एस.सी.ओ. 1126-27, सेक्टर-22 बी, चण्डीगढ़ • लायल बुक डिपो, पंजाब यूनीवर्सिटी मार्केट, सेक्टर-14, चण्डीगढ़ • सुरिन्दर स्टेशनर्स, शॉप नम्बर-35, सेक्टर-14, पी.यू. मार्केट, सेक्टर-14, चण्डीगढ़ • एलाइड बुक सेण्टर, शॉप नम्बर-50, सेक्टर-15 डी, चण्डीगढ़ • स्टैण्डर्ड बुक डिपो, एस.सी.ओ. 78, सेक्टर-15, चण्डीगढ़

**मध्यप्रदेश** : • संजय बुक स्टॉल, शाप नं- 43, ग्वालियर

**हिमाचल प्रदेश** : • शहीद भगतसिंह पुस्तकालय, पँवार लाँज, एयरपोर्ट रोड, टूटु, शिमला (11) • सुरेश सेन निशान्त, गाँव सलाह, डाक- सुन्दरनगर-1, जिला-मण्डी

**उत्तराखण्ड :** • संजय वर्मा, वर्मा एजेंसी, हनुमान चौक सोमेश्वर, पो-सोमेश्वर, जिला-अल्मोड़ा • राजेन्द्र जोशी द्वारा श्रमजीवी पत्रकार संगठन द्वितीय तल, जिला पंचायत भवन, पिथौरागढ़ • दख़ल' द्वारा श्री रमाशंकर नेलवाल नज़दीक उत्तर उजाला ऑफिस, चौहान पाटा, मालरोड, अल्मोड़ा • अल्मोड़ा किताबघर द्वारा श्री शमशेर सिंह बिष्ट नियर यूनिवर्सिटी कैम्पस, मालरोड, अल्मोड़ा, पिथौरागढ़ • बुक वर्ल्ड, 10- ए, एस्ले हाल,देहरादून

**जम्मू** : • श्री पुरुषोत्तम लेक्चरर, हिन्दी विभाग, जम्मू विश्वविद्यालय

**छत्तीसगढ़ :** • श्री देवांशु पाल, सं – 'पाठ', गायत्री विहार, गली विनोबा नगर, विलासपुर, छत्तीसगढ़

**मुक्तिकामी छात्रों-युवाओं का 'आह्वान' का नये-पुराने अंक तथा आह्वान पुस्तिकाएँ आप निम्नलिखित वैबसाइट से भी प्राप्त कर सकते हैं : www.ahwanma.com, इसके अलावा आप आह्वान के लेख व्हाट्सएप पर भी पा सकते हैं बस आपको 9892808704 (सत्यनारायण) फ़ोन नम्बर अपनी फ़ोन सूची में जोड़कर व्हाट्सएप से इस पर लेख प्राप्ति हेतु सन्देश भेजना होगा, धन्यवाद।**

समीक्षा

# 18 दिन तक चली हरियाणा रोडवेज की ऐतिहासिक हड़ताल

## जनता पर निजीकरण के रूप में किये गये सरकारी हमले का जवाब देने में कहाँ तक कामयाब रही?

● आह्वान संवाददाता

आपको ज्ञात होगा कि हरियाणा में रोडवेज कर्मचारियों ने निजीकरण के खिलाफ़ एक शानदार हड़ताल की। हरियाणा सरकार द्वारा रोडवेज के निजीकरण के प्रयासों के खिलाफ़ 'हरियाणा रोडवेज तालमेल कमेटी' के आह्वान पर हड़ताल शुरू हुई थी।

### रोडवेज कर्मचारियों की हड़ताल क्यों हुई?

हरियाणा रोडवेज विभाग का निर्माण 1966 को राज्य के गठन के समय ही किया गया था तथा 1970 में प्रदेश की प्राइवेट बसों का राष्ट्रीयकरण करके विभाग के बेड़े का विस्तार किया गया था। रोडवेज विभाग 1991 तक अपने लक्ष्यों-उद्देश्यों में काफ़ी हद तक कामयाब रहा। 1991 यानी उदारीकरण-निजीकरण-वैश्वीकरण की नीतियों की शुरुआत के बाद हरियाणा में बनी तक़रीबन सभी सरकारें रोडवेज विभाग को बर्बाद करके इसका निजीकरण करने हेतु प्रयासरत रही हैं किन्तु मौजूदा भाजपा की मनोहर लाल खट्टर सरकार ने सबको पीछे छोड़ दिया है। भाजपा राज में पिछले करीब साढ़े चार साल के दौरान रोडवेज के बेड़े में मात्र 62 नयी बसें शामिल की गयी जबकि हर साल सैकड़ों बसें नकारा हो जाती हैं। अब सरकार 720 निजी बसों को किलोमीटर स्कीम के तहत रोडवेज विभाग में शामिल करना चाहती है। प्रति किलोमीटर के हिसाब से एक बस पर सरकारी खर्च करीब 52 से 55 रुपये पड़ेगा जबकि रोडवेज की बस पर औसतन 46 रुपये खर्च आता है और यह तो तब है जब रोडवेज यात्री सेवा में विभिन्न तबकों को छूट देती है जबकि प्राइवेट बसों में किसी को ठेंगा भी नहीं मिलेगा। और तो और परिचालकों तक का वेतन भी सरकारी खाते से वहन किया जायेगा। कर्मचारियों की राज्यव्यापी हड़ताल का निजीकरण ही प्रमुख मुद्दा बना। सरकार लगातार रोडवेज के घाटे का रोना रोती रही है। सरकार का कहना है कि रोडवेज विभाग 680 करोड़ के घाटे में चल रहा है किन्तु यह बात सरकार छुपा जाती है कि तमाम अधिकारी सामान की खरीद-फ़रोख्त में कितने की घपलेबाजी करते हैं? सरकार यह भी नहीं बताती कि विभिन्न चुनावी सभाओं में मुफ़्त यात्रा की जो घोषणाएँ सरकार के मन्त्री-सन्तरी कर देते हैं उनकी पूर्ति कहाँ से होगी? रोडवेज 45 श्रेणियों को यात्रा करने में किराया छूट की सुविधा प्रदान करती है जिसमें बुजुर्गों, बीमारों, छात्रों को यात्रा सेवा में छूट शामिल है, प्रदेश की करीब 80 हज़ार छात्राओं को हरियाणा रोडवेज निःशुल्क बस पास की सुविधा देती है कहना नहीं होगा कि हरियाणा में लड़कियों के बड़ी संख्या में पढ़ाई करने के पीछे रोडवेज का अहम योगदान है। यदि सारी सब्सिडी जोड़ दी जाये तो यह सैकड़ों करोड़ में बैठती है। सरकार यह भी नहीं बताती कि रोडवेज विभाग में यदि पद खाली पड़े रहेंगे और कर्मचारियों की कमी से बसें खड़ी रहेंगी तो कमाई भला कैसे होगी? परिचालकों की संख्या तो पर्याप्त है ही नहीं इसके अलावा 1993 के बाद से सरकारों द्वारा वर्कशॉप में कोई भी नया कर्मचारी भर्ती नहीं किया गया, केवल प्रशिक्षुओं से ही काम चलाया जा रहा है। रोडवेज कर्मचारियों को बदनाम करने के मकसद से करोड़ों रुपये विज्ञापनों पर भी पानी की तरह बहाती रही है। क्या रोडवेज कर्मचारियों को जनता के बीच बदनाम करके और करोड़ों रुपये का नुकसान करके रोडवेज के घाटे की पूर्ति हो सकती है?

रोडवेज के निजीकरण का मतलब है हजारों रोज़गारों में कमी करना। केन्द्र सरकार के ही नियम के अनुसार 1 लाख की आबादी के ऊपर 60 सार्वजनिक बसों की सुविधा होनी चाहिए। इस लिहाज से हरियाणा की क़रीब 3 करोड़ की आबादी के लिए हरियाणा राज्य परिवहन विभाग के बेड़े में कम से कम 18 हज़ार बसें होनी चाहिए किन्तु फ़िलहाल बसों की संख्या मात्र 4200 है! हम आपके सामने कुछ आँकड़े रख रहे हैं जिससे 'हरियाणा की शेरनी' और 'शान की सवारी' कही जाने वाली रोडवेज की बर्बादी की कहानी आपके सामने ख़ुद-ब-ख़ुद स्पष्ट हो जायेगी। 1992-93 के समय हरियाणा की जनसंख्या 1 करोड़ के आस-पास थी तब हरियाणा परिवहन विभाग की बसों की संख्या 3500 थी तथा इनपर काम करने वाले कर्मचारियों की संख्या 24 हज़ार थी जबकि अब हरियाणा की आबादी 3 करोड़ के क़रीब है किन्तु बसों की संख्या 4200 है तथा इन पर काम करने वाले कर्मचारियों की संख्या 19 हज़ार ही रह गयी है। पिछले 25 सालों के अन्दर चाहे किसी भी पार्टी की सरकार रही हो लेकिन हरियाणा रोडवेज की सार्वजनिक

बस सेवा की हालत लगातार खस्ता होती गयी है। रोडवेज की एक बस पर 6 युवाओं को रोजगार मिलता है यदि रोडवेज के बेड़े में 14 हज़ार नयी बसों को शामिल किया जाता है तो क़रीब 85 हज़ार युवा रोज़गार पायेंगे तथा आम जनता को सुविधा होगी वह अलग। सरकारों में बैठे लोग अपने लग्गू-भग्गुओं को लाभ पहुँचाने के मकसद से रोडवेज में निजीकरण को बढ़ावा दे रहे हैं। मौजूदा 720 बसों के परमिटों की बन्दर बाँट भी कुछ ही गिने-चुने धन्नासेठों और लग्गू-भग्गुओं के बीच की गयी है।

रोडवेज कर्मचारियों के संघर्ष का इतिहास लम्बा है। यदि मौजूदा कुछ संघर्षों की बात की जाये तो 5 सितम्बर को हड़ताल पर गये कर्मचारियों पर सरकार ने एस्मा एक्ट (Essential Services Maintenance Act) लगा दिया था। हड़ताल पर गये कर्मचारियों को पुलिस के द्वारा प्रताड़ित किया गया तथा कइयों को नौकरी से निलम्बित (सस्पेण्ड) कर दिया। जनता के हक़ में खड़े कर्मचारियों पर सरकार दमन का पाटा चलाती रही है। 10 सितम्बर को भी विधानसभा का घेराव करने जा रहे 20 हज़ार कर्मचारियों को जिनमें रोडवेज कर्मचारी भी शामिल थे का पुलिस द्वारा भयंकर दमन किया गया। पंचकुला में उनका स्वागत लाठी, आँसू गैस, पानी की बौछारों के साथ किया गया। मतलोडा कैम्प कार्यालय पर प्रदर्शन कर रहे कर्मचारियों का भी हरियाणा सरकार व पुलिस ने दमन किया जिसमें कइयों को गम्भीर चोटें आयी तथा 250 के क़रीब को एस्मा के तहत निलम्बित कर दिया तथा बहुतों पर झूठे मुकदमे भी दर्ज कर लिए गये। अब अन्त में जाकर रोडवेज कर्मचारियों ने अपनी तालमेल कमेटी के आह्वान पर निजीकरण के खिलाफ़ 16-17 अक्टूबर को प्रदेशव्यापी हड़ताल का फैसला लिया था।

18 दिन चली ऐतिहासिक हड़ताल का घटनाक्रम और व्यापक जन समर्थन

मौजूदा हड़ताल को नेतृत्व देने वाली तालमेल कमेटी को हरियाणा रोडवेज में कार्यरत सभी प्रमुख सात यूनियनों व तक़रीबन सभी कर्मचारियों का समर्थन प्राप्त था। कर्मचारियों ने सरकारी दुष्प्रचार के जवाब में अपनी बात जनता तक पहुँचायी और काफ़ी हद तक कर्मचारी इसमें कामयाब भी रहे। प्रदेश के कर्मचारियों की अन्य यूनियनों ने डंके की चोट पर रोडवेज कर्मियों का समर्थन किया और साथ दिया। बिजली विभाग के कर्मचारी, अध्यापक, नगर निगमों और परिषदों के कर्मचारी, किसान यूनियनें, मजदूरों के संगठन, छात्र संगठन आदि आदि रोडवेज की हड़ताल का हर प्रकार से समर्थन-सहयोग कर रहे थे। गाँवों की पंचायतें तक कर्मचारियों के समर्थन में आ रही थी। तथा यह समर्थन-सहयोग दिन-प्रतिदिन बढ़ ही रहा था। समझौता बैठकों में कर्मचारी नेताओं ने कहा कि वे निजी बस की जगह सरकारी बस रोडवेज के बेड़े में शामिल करने की स्थिति में अपना एक माह का वेतन और दो साल का भत्ता तक छोड़ने के लिए तैयार हैं। कर्मचारियों ने अपने वेतन का 20 प्रतिशत 10 माह तक देने की भी बात की। इन्हीं सब कारणों से निजीकरण के खिलाफ़ अपनी लड़ाई में कर्मचारी जनता तथा अन्य कर्मचारियों के बड़े हिस्से का समर्थन जीतने में कामयाब रहे। यह हड़ताल 16 अक्टूबर को शुरू हुई थी तथा इसे 3 नवम्बर को वापस ले लिया गया। 18 दिन से चल रही हरियाणा रोडवेज की ऐतिहासिक हड़ताल पंजाब एवं हरियाणा हाईकोर्ट की दखल के बाद वापस ली गयी। 3 नवम्बर को सभी कर्मचारी काम पर चले गये। यह हड़ताल शुरू में 2 दिन के लिए ही आहूत थी किन्तु सरकार द्वारा हठधर्मिता दिखाये जाने और वार्ता के लिए सामने न आने के कारण इसे क्रमशः 2, 3, 3, 4, 4 दिनों के लिए बढ़ाया जाता रहा। इस प्रकार कुल मिलाकर हड़ताल 18 दिन तक चली। इस दौरान दो बार वार्ताएँ हुई, एक बार अधिकारी स्तर पर तो एक बार मन्त्री स्तर पर। किन्तु सरकार पूरी तरह से 720 निजी बसों को परमिट देने पर अड़ी रही। यही नहीं सरकार के मन्त्रीगण कर्मचारियों को यह नसीहत भी देते रहे कि नीतियाँ बनाने का काम सरकार का है व कर्मचारियों को इसमें अड़ंगा नहीं डालना चाहिए कहने का मतलब कोल्हू के बैल की तरह बिना सींग-पूँछ हिलाये गुलामों की तरह अपने काम से काम रखना चाहिए! सरकार का कहना था कि 720 प्राइवेट बसें तो आयेंगी ही और यदि ज़रूरत पड़ी तो और निजी बसें भी लायी जायेंगी। निश्चित तौर पर रोडवेज के निजीकरण के खिलाफ किया जा रहा रोडवेज कर्मचारियों का संघर्ष जनता के हक़ में लड़ा जा रहा संघर्ष था। हरियाणा रोडवेज का निजीकरण सीधे तौर पर जनता के ऊपर कुठाराघात साबित होगा। तमाम राज्यों में परिवहन विभागों को निगम बनाये जाने और बर्बाद किये जाने की कहानी हमारे सामने है ही! यही कारण है कि प्रत्यक्ष और परोक्ष रूप से जनता का समर्थन और सहानुभूति रोडवेज कर्मचारियों के साथ थी। शान्तिपूर्ण तरीके से हड़ताल पर जाने का अधिकार भी पूरी तरह से संविधान सम्मत है। इतना सब होने के बावजूद 720 निजी बसों को परमिट दिये जाने की माँग धरी की धरी रह गयी और हड़ताल वापस ले ली गयी।

हड़ताल की वापसी

कहना नहीं होगा कि रोडवेज की मौजूदा हड़ताल में एक जनान्दोलन बनने की कुव्वत थी। सरकार तमाम प्रयासों के बावजूद भी इसका दमन करने में कामयाब नहीं हो सकी। जनता के विभिन्न तबके तो हड़ताल का खुला समर्थन कर ही रहे थे किन्तु मज़ेदार बात यह है कि पिछली सरकारों और प्रमुख चुनावी दलों के कर्त्ता-धर्त्ता भी धरना स्थलों पर आकर हड़ताल को मौखिक समर्थन देने के लिए मज़बूर हुए। यह सब चीज़ें दिखाती हैं हड़ताल समाज में अन्दर तक पैठने की ताकत रखती थी। निश्चित तौर पर कर्मचारियों की एकता और निरन्तर

मौजूद रहे जुझारू तेवर ज़रूर काबिले तारीफ़ हैं किन्तु आनन-फ़ानन में हड़ताल को वापस लिया जाना कई बिन्दुओं पर सोचने के लिए हमें विवश अवश्य करता है।

हड़ताल वापस लिए जाने के चन्द रोज़ पहले ही डाली गयी एक जनहित याचिका पर सुनवाई करते हुए हाईकोर्ट ने कहा कि हड़ताल किसी समस्या का कोई समाधान नहीं होता व यदि इससे दिक्कतों का हल होना होता तो हम भी हड़ताल पर बैठ जाते! दूसरा उन्होंने कहा कि गाँधी जी ने तो विदेशी ताकत के खिलाफ हड़ताल की थी पर कर्मचारी तो अपनों के खिलाफ ही हड़ताल कर रहे हैं। ताज्जुब की बात यह है कि कुछ दिन पहले ही कोर्ट ने रोडवेज कर्मियों की हड़ताल के सन्दर्भ में ही कहा था कि हड़ताल गैर कानूनी नहीं है तथा हरेक को अपनी बात रखने और शान्तिपूर्ण ढंग से विरोध जताने का हक़ है। कोर्ट की तरफ़ से सरकार को भी नसीहत दी गयी है कि मिल-बैठकर बातचीत से मामले को सुलझाएँ। कोर्ट की अगली तारीख़ तक सरकार और रोडवेज तालमेल कमेटी बातचीत से हल निकालें तथा कोर्ट भी इस स्थिति में मध्यस्थता करने के लिए तैयार रहेगा। सरकार अन्त तक अपनी बात से टस से मस नहीं हुई। यही नहीं 1 नवम्बर यानी बृहस्पतिवार के दिन खट्टर सरकार ने अपना तथाकथित फ़ाइनल नोटिस जारी कर दिया था कि 2 नवम्बर तक सभी कर्मचारी वापस काम पर लौट जायें नहीं तो उनके खिलाफ़ क़ानूनी और विभागीय कार्रवाईयाँ और भी तेज़ कर दी जायेंगी तथा काम से बर्खास्त कर दिया जायेगा। 18 दिनों की हड़ताल के दौरान 1200 एफ़आईआर दर्ज़ की गयी, 400 से अधिक कर्मचारियों को सस्पेण्ड तथा 350 से अधिक को बर्खास्त किया गया, 1000 से ज़्यादा को चार्ज शीट किया गया। कर्मचारियों पर लगाये गये विभिन्न केस, मुकदमे भी 14 नवम्बर यानी अगली तारीख तक मुल्तवी कर दिये गये थे, ध्यान रहे इन्हें अभी ख़ारिज नहीं किया गया है। अब 12 तारीख़ को रोडवेज विभाग के साथ तालमेल कमेटी के नेताओं की बात हो चुकी है किन्तु अब भी वही ढाक के तीन पात हैं। कोर्ट की 14 नवम्बर की पेशी में भी मुद्दे का कोई समाधान नहीं निकला अगली तारीख़ 29 नवम्बर की दे दी गयी। फ़िलहाल तक भी कर्मचारियों के ऊपर लगे केस-मुकदमे ख़ारिज नहीं किये गये हैं। खट्टर महोदय तो कर्मचारियों के साथ सीधे मुँह बात तक करने के लिए तैयार नहीं हैं। रोडवेज तालमेल कमेटी के द्वारा सरकारी फरमान के जवाब में 4 नवम्बर को जीन्द में रैली करने की घोषणा की गयी थी किन्तु इसे भी कोर्ट की कार्रवाई के बाद वापस ले लिया गया। परिवहन मन्त्री कृष्ण लाल पँवार हड़ताल ख़त्म होने पर खुद की पीठ थपथपा रहे थे तथा उनकी बोली-भाषा में कोई फ़र्क नहीं आया था। दीवाली के मौके पर चारों तरफ़ शुभकामनाएँ देने और लेने का आलम छाया रहा। सभी एक-दूसरे को दिवाली और 18 दिन की हड़ताल की बधाई दे रहे थे! सरकार भी खुश थी, कर्मचारी नेता भी इसे अपनी जीत बता रहे थे तथा कोर्ट की तो बात पर ही अमल हुआ था! किन्तु जनता और आम कर्मचारियों के मन-मस्तिष्क में चन्द सवालात ज़रूर उमड़-घुमड़ रहे थे।

जैसे:- अभी तो लोहा गर्म हुआ था फ़िर चोट क्यों नहीं की गयी? जनता की सहानुभूति जब सक्रिय समर्थन और सहयोग में बदल रही थी तो हड़ताल वापस क्यों ले ली गयी? क्या नेतृत्व को 18 दिन के बाद यह समझ में आया कि कोर्ट की मध्यस्थता और बात-चीत से भी हल निकाला जा सकता है? क्या इससे पहले मामला कोर्ट में गया ही नहीं था या फ़िर सरकार के साथ निजीकरण के मुद्दे पर वार्ताएँ हुई ही नहीं थी? सबसे बड़ा सवाल कि क्या 18 दिन के संघर्ष के परिणाम को देखते हुए पुनः कर्मचारियों को एक बैनर के नीचे लाना सम्भव होगा? क्या पंजाब एवं हरियाणा हाईकोर्ट रोडवेज के निजीकरण के विभिन्न पक्षों-पहलुओं से अभी तक अनजान था? रोडवेज का निजीकरण करके सरकार जनहित का कौन सा काम साधना चाहती है? इनमें से कुछ सवालों का जवाब तो वक्त के साथ हमें मिल ही जायेगा तथा कुछ सवाल आगे के संघर्षों में हमें सावधान रहना सिखायेंगे।

यह चीज़ भले ही सम्भव है कि हमारा संघर्ष फ़िलहाली तौर पर आंशिक जीत ही दर्ज़ करे। किन्तु लड़ाई के असल मुद्दे पर कोई ठोस आश्वासन, वायदा, स्टे लिये बिना ही संघर्ष को ख़त्म कर देना या फ़िर मुल्तवी कर देना कहाँ तक उचित है? कभी-कभी आन्दोलनों में पीछे भी हटना पड़ सकता है किन्तु सम्भावना सम्पन्न होने के बावजूद भी पीछे हटना जनता के बीच शंका ज़रूर पैदा करता है। तमाम कर्मचारियों को शानदार हड़ताल के लिये तथा आम जनता को सक्रिय समर्थन के लिये सलाम बनता है। किन्तु यूनियन जनवाद और वास्तविक सामूहिक नेतृत्व की कमी पर ध्यान दिया जाना चाहिए था तथा साथ ही जनता की सहानुभूति और सहयोग को आन्दोलन की शक्ल नहीं दे पा सकने की कमी को भी दुरुस्त किये जाने की आवश्यकता है। निजीकरण के रूप में जनता पर किया गया यह सरकारी हमला न तो पहला हमला है और न ही आख़िरी। रोडवेज की व्यापक हड़ताल ने यह सिद्ध कर दिया है कि जनता से जुड़े आन्दोलन आसानी से नहीं कुचले जा सकते। रोडवेज की हड़ताल ने व्यापक हड़तालों और आन्दोलनों की सम्भावना-सम्पन्नता की तरफ़ भी इशारा किया है। आगे और भी ज़ोर-शोर से हमें संगठित आन्दोलन खड़े करने होंगे। सही विचारधारा और सही संगठन शक्ति के बिना आन्दोलन हार का खारा स्वाद चख सकते हैं और सही विचारधारा पर अमल और सही रूप में संगठित ताकत हमारी जीत की गारण्टी हो सकते हैं।

●

सामयिकी

# हरियाणा में प्रत्यक्ष छात्र संघ चुनाव के लिए छात्रों का आन्दोलन और सरकार की तानाशाही

●मंजीत

हरियाणा मे 22 साल बाद छात्र संघ चुनाव हुए। 1996 मे बंसीलाल सरकार ने गुण्डागर्दी का बहाना बनाकर छात्र संघ चुनावों को बन्द कर दिया था। उसके बाद से ही प्रदेश के छात्रों की यह माँग लगातार उठती रही है कि छात्र संघ चुनाव बहाल किये जायें ताकि प्रदेश के छात्र अपने हकों की आवाज़ उचित मंच के माध्यम से उठा सकें। पिछले लम्बे समय से हरियाणा में चाहे किसी भी पार्टी कि सरकार रही हो, छात्रों को उनके इस लोकतान्त्रिक अधिकार से वंचित रख रही है। सरकारी पक्ष का कहना है कि इससे गुण्डागर्दी बढ़ जायेगी। अगर ऐसा है तो फिर एमपी, एमएलए से लेकर सरपंच तक के चुनाव भी बन्द कर दिये जाने चाहिए क्योंकि उन चुनावों मे गुण्डागर्दी, बाहुबल और धनबल के के सिवाय और तो कुछ होने की सम्भावना ही नगण्य है। ये सरकारों की चाल है कि छात्र आबादी का अराजनीतिकरण कर दिया जाये ताकि वे सही और गलत में फर्क न कर सकें और चन्द लोगों की वोट की दुकान चलती रहे। हरियाणा में बीजेपी ने विधानसभा चुनाव के समय यह वायदा किया था कि यदि उनकी सरकार बनती है तो वे आते ही छात्र संघ के चुनाव करवायेंगे। अब 4 साल गुजरने के बाद बीजेपी सरकार ने अपने चुनावी वायदे को निभाने की नौटंकी करते हुए, अप्रत्यक्ष छात्र संघ चुनाव करवाये।

छात्र संघ चुनाव टंकेश्वर कमेटी की सिफ़ारिशों के अनुसार करवाये गये। टंकेश्वर कमेटी के दिशा निर्देश जानबूझकर ऐसे रखे गये, जिससे कि छात्र हितों के लिए संघर्ष कर रहे छात्र चुनावों मे भाग ही न ले सकें। एबीवीपी को छोड़कर प्रदेश के सभी छात्र संगठनों ने अप्रत्यक्ष चुनाव का विरोध किया। दिशा छात्र संगठन ने शुरू से ही अप्रत्यक्ष छात्र संघ चुनाव का विरोध किया और प्रत्यक्ष छात्र संघ चुनाव के समर्थन मे पर्चे निकाले और 10 अगस्त को पंचकुला मे प्रत्यक्ष छात्र संघ चुनाव करवाने के लिए हुए प्रदर्शन में भी शामिल रहा। इस प्रदर्शन के ऊपर पुलिस प्रशासन ने पानी की बौछारों का इस्तेमाल किया। इसके बाद दिशा छात्र संगठन ने कक्षावार अभियान चलाया। जिसमें छात्र संघ चुनावों के महत्व से छात्रों को अवगत करवाते हुए बताया कि सरकार सेमेस्टर सिस्टम, एफवाईयूपी, सीबीसीएस, एसएफ़एस जैसी छात्र विरोधी नीतियाँ लगातार लागू कर रही है। भारतीय शिक्षा व्यवस्था को अमेरिकी ढंग के अनुसार ढाला जा रहा है ताकि अमेरिकी पूँजीपति शिक्षा के क्षेत्र में निवेश कर सकें, भारतीय शिक्षण संस्थानों को सीधे तौर पर निगल सकें तथा उनके भारतीय लग्गू-भग्गू भी शिक्षा को बिकाऊ माल बनाकर बेतहाशा मुनाफा कमा सकें। सरकार ने रूसा (राष्ट्रीय उच्चतर शिक्षा अभियान) का बजट 1,300 करोड़ से घटाकर 200 करोड़ कर दिया है। विश्वविद्यालयों और कॉलेजों मे प्रोफेसरो को आउटसोर्सिंग के तहत रखा जा रहा है। देखा जाये तो इस समय केन्द्रीय व राज्य विश्वविद्यालयों और कॉलेजों में 70,000 के आस-पास पद रिक्त पड़े हैं। यदि खुद पढ़ाने वाला विभाग प्रमुख के रहमोकरम पर हो, उस पर छँटनी की तलवार लगातार लटकती रहे

तो वह रचनात्मक तरीके से नहीं पढ़ा सकता। ये सब राजनीति तय करती है इसलिए हमे राजनीतिक सरगरमियों में भागीदारी करनी चाहिए।

छात्र संघ चुनाव और छात्र राजनीति का मतलब किसी चुनावबाज पार्टी के पिछलग्गू संगठन की जय-जयकार करना नहीं होता, बल्कि इसका मतलब यह होता है कि छात्र अपनी स्वतन्त्र आवाज सरकारों के कानों तक पहुँचा सकें, ऐसे नेतृत्व का चुनाव किया जा सके जो छात्रों के मुद्दों को विश्वविद्यालय प्रशासन के सामने उठा सके और छात्रों के हितों के लिए लड़ सके। परन्तु अप्रत्यक्ष चुनावों के जरिये सरकार अपनी कठपुतली चुनना चाहती है ताकि जब सरकार छात्र विरोधी शिक्षानीति लागू करे तो छात्र विरोध ना करें। अप्रत्यक्ष चुनावों में हर कक्षा से एक कक्षा प्रतिनिधि चुना जाना तय था। फिर ये सभी कक्षा प्रतिनिधि छात्र काउंसिल को चुनते तथा इन्हीं के बीच से चार पदाधिकारी भी चुने जाते। जबकि प्रत्यक्ष छात्र संघ चुनाव में कोई भी छात्र किसी भी पद पर चुनाव लड़ सकता है। इस प्रक्रिया में सभी छात्र मतदान के जरिये अपने प्रतिनिधियों को चुनते हैं। छात्रों को अपने प्रतिनिधियों का एजेण्डा पहले ही पता होता है। परन्तु अप्रत्यक्ष चुनावों मे ऐसा नहीं होता। इसके अलावा इन चुनावों मे यह भी प्रावधान था कि यदि किसी पद के लिए आवेदन ना आये तो, उस कक्षा से सबसे अंक पाये विद्यार्थी को कक्षा प्रतिनिधि बना दिया जायेगा। चाहे उस छात्र कि दिलचस्पी हो या ना हो। जिसके चलते चुनावों में छात्रों के ऊपर प्रोफेसरों और विभाग अध्यक्ष का दबाव भी रहेगा। टंकेश्वर कमेटी की गाइडलाइन में निम्नलिखित खामियाँ हैं। (1) एमफ़िल, पीएचडी, अन्तराल वर्ष, स्ववित्तपोषित कौर्सों के छात्रों को चुनाव प्रणाली से बाहर रखा गया है। (2) पदाधिकारी चुनने का आम विद्यार्थियों को कोई अधिकार नहीं है तथा कक्षा प्रतिनिधि पूरे शिक्षण संस्थान की समस्याओं को नहीं समझ सकते। (3) टॉपर विद्यार्थियों को जबर्दस्ती चुनाव में घसीटा जाता है। (4) दलित, पिछड़े छात्रों और छात्राओ को इस चुनाव मे उचित प्रतिनिधित्व नहीं दिया गया है। (5) अप्रत्यक्ष चुनाव प्रणाली में प्रतिनिधियों को हथियाने में पैसे, गुण्डागर्दी, अपहरण जैसी वारदातों को बढ़ावा मिलेगा और आम छात्रों में फूट बढ़ेगी।

इन सब कारणों की वजह से हरियाणा भर के तमाम छात्र अप्रत्यक्ष छात्र संघ चुनावों का विरोध कर रहे थे और प्रत्यक्ष छात्र संघ चुनावों की माँग कर रहे थे। चुनाव के दौरान का घटनाक्रम यह रहा कि 12 अक्टूबर को पूरे हरियाणा में अप्रत्यक्ष चुनावों के विरोध मे अलग-अलग जगह प्रदर्शन हुए। महर्षि दयानन्द विश्वविद्यालय और कुरुक्षेत्र विश्वविद्यालय में छात्रों के ऊपर पुलिस ने बर्बरतापूर्ण तरीके से लाठी चार्ज किया और आँसू गैस के गोले दागे और सैकड़ों छात्रों पर झूठे केस दर्ज किये गये। महर्षि दयानन्द विश्वविद्यालय में पुलिस ने कैम्पस के अन्दर घुसकर छात्रों पर बलप्रयोग किया। इसके बाद विश्वविद्यालय कैम्पस को छावनी मे तब्दील कर दिया गया। ज़्यादातर छात्र डर के मारे अपने घर चले गये, छात्रावास लगभग खाली हो गये थे। प्रत्यक्ष छात्र संघ चुनाव संघर्ष समिति ने इसके बाद हर रोज सरकार और प्रशासन के खिलाफ प्रदर्शन किये और बचे हुए विद्यार्थियों के बीच सघन अभियान चलाये तथा सरकार व उसके पिछलग्गू छात्र संगठन एबीवीपी का भण्डाफोड़ किया। विश्वविद्यालय प्रशासन लगातार नियमों में बदलाव करता रहा। सरकार और विश्वविद्यालय प्रशासन के इतना ज़ोर लगाने के बावजूद भी चुनावों मे छात्रों की भागीदारी नगण्य रही। महर्षि दयानन्द विश्वविद्यालय के 222 कक्षा प्रतिनिधियों मे सिर्फ 11 (4.95%) पदों पर ही मतदान के जरिये कक्षा प्रतिनिधि चुने गये। बाकी बचे पदों मे से 131 पर या तो नामांकन भरा ही नहीं गया या वापिस ले लिया गया। 80 पद सर्वसम्मति से चुन लिये गये। रोहतक के ही जाट कॉलेज में करीब 8,000 की आबादी में से सिर्फ दो नामांकन आये और बाद में वे भी वापस ले लिये गये। ऐसा ही हाल कुरुक्षेत्र विश्वविद्यालय का रहा। वहाँ 224 कक्षा प्रतिनिधियों मे से सिर्फ 41 (18.30%) पदों को ही मतदान के जरिये चुना गया। बाकी बचे 183 पदों मे से 102 पद सर्वसम्मति से चुने गये और 81 पदों पर सबसे अधिक अंक पाये छात्र को चुना गया। यही हाल लगभग हर विश्वविद्यालय और कॉलेज का रहा। आँकड़े स्पष्ट बता रहे हैं कि प्रदेश के छात्र समुदाय ने चुनावों का सफल बहिष्कार किया है। एबीवीपी ने अकेले ही चुनावों में भागीदारी की इसके बावजूद भी बहुत से कॉलेजों में वो प्रधान का पद ही नहीं जीत पाये। बीजेपी सरकार इन चुनावों के जरिये अपने दोहरे हित साधना चाहती थी पहला अपने छात्र संगठन एबीवीपी को हरियाणा मे स्थापित करना ताकि अपनी वोट बैंक की राजनीति सुरक्षित की जा सके, दूसरा अपने चुनावी वायदे को पूरा करने की नौटंकी की जा सके। पर सरकार की हर चाल उल्टी पड़ गयी। हरियाणा के इस छात्र संघ चुनाव के दौरान एबीवीपी का दोगला चरित्र नंगा हो गया और छात्रों के ऊपर जिस बर्बर तरीके से लाठी चार्ज किया गया और छात्रों के ही ऊपर केस दर्ज किए गये, इससे छात्र समुदाय में सरकार की भी पोल खुल गयी। कहने की कुल बात यह है कि हरियाणा में छात्र संघ चुनाव के नाम पर इलेक्शन नहीं बल्कि सेलेक्शन की प्रक्रिया को अंजाम दिया गया। हरियाणा में प्रत्यक्ष छात्र संघ चुनाव की माँग छात्रों के व्यापक हितों के साथ जुड़ती है।

विमर्श

# ब्राजील में फासिस्ट बोलसोनारो की जीत, विश्व स्तर पर नया फासिस्ट उभार और आने वाले समय की चुनौतियाँ

●कविता कृष्णपल्लवी

विश्व पूँजीवाद असाध्य ढाँचागत संकट से ग्रस्त है। यह दीर्घकालिक संकट थोड़ा दबता, फिर उभड़ता, 1970 के दशक से ही जारी है। अर्थव्यवस्था का इस हद तक अतिवित्तीयकरण पूँजीवाद के इतिहास में पहले कभी नहीं देखा गया था। इन्हीं बुनियादी कारणों के चलते, आज पूरे विश्व स्तर पर बुर्जुआ जनवाद का स्पेस सिकुड़ रहा है, बुर्जुआ सत्ताएँ ज्यादा से ज्यादा निरंकुश दमनकारी हो रही हैं और पूरी दुनिया में विभिन्न रूपों में फासिस्ट उभार हो रहा है। पश्चिम से लेकर पूरब तक, और उत्तर से लेकर दक्षिण तक, बुर्जुआ समाज फासिज़्म की उर्वर नर्सरी बन चुका है। कई देशों में फासिस्ट हुकूमत पर काबिज हैं या होने की स्थिति में हैं और कई देशों में फासिस्ट प्रकृति के उग्र मूलतत्ववादी (फण्डामेण्टेलिस्ट) आन्दोलन चल रहे हैं।

आज के फासिस्टों की अपने देश से बाहर सैन्य आक्रामकता 1920 और 1930 के दशक के ज़र्मनी, इटली के फासिस्टों जैसी भले न हो, लेकिन देश के भीतर मेहनतकशों, धार्मिक-नस्ली-राष्ट्रीय अल्पसंख्यकों और स्त्रियों पर अत्याचार और दमन करने में ये ज़रा भी पीछे नहीं है। यह भी ध्याान देने की बात है कि दुनिया की जितनी बड़ी आबादी आज सीधे फासिस्ट हुकूमतों या धुरदक्षिणपन्थी के मातहत हैं, वह दूसरे विश्वयुद्ध के पहले के फासिस्ट-शासित देशों से बहुत अधिक है। 1 अरब 30 करोड़ आबादी वाले भारत पर रा.ज.ग. के लग्गू-भग्गुओं के साथ मोदी के नेतृत्व में फासिस्ट भाजपा शासन कर रही है। क़रीब 8 करोड़ आबादी वाले तुर्की पर एर्दोगान की धुर-दक्षिणपन्थी पार्टी शासन कर रही है। 10.49 करोड़ की आबादी वाले फिलीपीन्स का शासक दुआर्ते भी क्वा्सी-फासिस्ट है। 4.48 करोड़ आबादी वाले उक्रेन की सत्ता भी फासिस्टों के हाथ में है। और 87.1 लाख आबादी वाले इस्रायल के बर्बर जायनिस्ट फासिस्टों के काले कारनामों से भला कौन परिचित नहीं।

अभी एक महत्वभपूर्ण घटना यह घटी है कि ब्राजील (20.93करोड़) के राष्ट्रपति चुनाव में फासिस्ट उम्मीदवार जायर बोलसोनारो (55.1 प्रतिशत वोट) ने लूला की वर्कर्स पार्टी के उम्मीदवार फर्नाण्डो हद्दाद (44.9 प्रतिशत वोट) को पराजित कर दिया है। इतने देशों की सत्ता फासिस्टों के हाथ में है और यूरोप से लेकर एशिया-अफ्रीका-लातिन अमेरिका के कई देशों में या तो सशक्त फासिस्ट आन्दोलन मौजूद हैं या फासिस्टि पार्टियाँ सत्ता में आने के लिए जी तोड़ कोशिश कर रही हैं। जाहिर है कि जो धुर-दक्षिणपन्थी निरंकुश बुर्जुआ सत्ताएँ हैं उनका इन फासिस्टी सत्ताओं से निकट सम्बन्ध- है और परस्पर प्रतिपर्द्धारत साम्राज्यवादी शक्तियाँ भी इन्हें अपने पक्ष में लेने के लिए भरपूर मदद करती रहती हैं।

आज की ये फासिस्ट सत्ताएँ विश्व बाज़ार पर वर्चस्व की महत्वाकांक्षा पालने की स्थिति में नहीं हैं, लेकिन इनकी क्षेत्रीय विस्तारवादी व प्रभुत्ववादी महत्वाकांक्षाएँ ज़रूर हैं। भारतीय फासिस्ट भारतीय उपमहाद्वीप में, अपनी धौंसपट्टी दिखाते हैं। दुआर्ते आसपास के देशों को धमकाता है। तुर्की यूरोप में अपनी दख़ल बढ़ाने के साथ ही अरब देशों में अपना प्रभाव बढ़ाना चाहता है। उक्रेन पश्चिमी शह पर रूसी खेमे से टकराता है। इस्रायल फिलिस्तीन पर कहर बरपा करने के साथ ही कई अरब देशों की ज़मीन दबाये बैठा है और मध्य पूर्व में अमेरिकी सैनिक चेकपोस्ट का काम करता है। भूमण्डलीकरण के इस दौर में दुनिया के सभी साम्राज्यवादी देशों की पूँजी जिस तरह सभी देशों में लगी है, उसे देखते हुए आज यह सम्भावना बहुत कम है कि अन्तर-साम्राज्यवादी प्रतिस्पर्द्धा का विस्फोट किसी विश्वयुद्ध के रूप में हो। दूसरी बात यह कि गत दो विश्वयुद्धों से और उनके बाद होने वाली क्रान्तियों से साम्राज्यवादियों ने भी सबक लिया है। अत: ज्यादा सम्भावना

यही है कि आज की पूँजीवादी दुनिया के अन्तरविरोध क्षेत्रीय युद्धों के रूप मे फूटते रहेंगे। आज अरब भूभाग में यह हो रहा है, कल को अफ्रीका, लातिन अमेरिका, मध्य एशिया या एशिया का कोई और भाग भी साम्राज्यवादियों और क्षेत्रीय बुर्जुआ शक्तियों की आपसी ज़ोर-आजमाइश का केन्द्र हो सकता है। इन क्षेत्रीय युद्धों में प्रभुत्ववादी महत्वाकांक्षा वाली फासिस्ट सत्ताओं की महत्वपूर्ण भूमिका होगी, बेशक़ यह भूमिका इस या उस साम्राज्यवादी शक्ति के साथ गठजोड़ करके ही बनेगी। लेकिन मुख्य बात यह है कि मुख्यत: तीसरी दुनिया के देशों में केन्द्रित फासिस्ट शक्तियों की भूमिका अन्तरराष्ट्रीय पटल पर नहीं, बल्कि सम्बन्धित देशों के भीतर बनेगी। ये फासिस्ट नवउदारवाद की नीतियों को देशी बुर्जुआ वर्ग और साम्राज्यवादियों के हक़ मे लोहे के हाथों से लागू करेंगे और आर्थिक तबाही-बर्बादी के विरुद्ध आवाज़ उठाने वाली जनता को बेरहमी के साथ कुचलेंगे। बीसवीं शताब्दी में फासिस्ट शक्तियों को नेस्तनाबूद करने में समाजवादी सोवियत संघ ने सर्वप्रमुख भूमिका निभायी थी। आज विश्व-पटल पर न तो कोई समाजवादी देश या शिविर मौज़ूद है, न ही विश्वभयुद्ध जैसी किसी स्थिति की अधिक सम्भावना है। ऐसी सूरत में तय है कि विभिन्न देशों में सत्तारूढ़, या शक्तिशाली होती जा रही फासिस्ट ताकतों से फैसलाकुन युद्ध की तैयारी मेहनतकश जन समुदाय को अपने बूते करनी होगी और अपने बूते ही उन्हें निर्णायक शिकस्त देनी होगी। पूँजीवाद के असाध्य ढाँचागत संकट से पैदा हुआ इक्कीस्वीं सदी का फासिज़म अब पूँजीवाद के जीवनपर्यन्त बना रहेगा, और सत्ता में न रहने की स्थिति में भी सामाजिक उत्पादत-उपद्रव मचाता रहेगा। दूसरी बाद, आज की दुनिया में नवउदारवाद को आम सहमति की नीति मान लेने के बाद, कोई भी बुर्जुआ या सामाजिक जनवादी पार्टी फासिज्म विरोधी क्रान्तिकारी संयुक्त मोर्चे को हिस्सा नहीं बनाया जा सकता है। इस मोर्चे में मज़दूर वर्ग की क्रान्तिकारी पार्टी के अतिरिक्त अन्य विभिन्न मज़दूर आन्दोंलन के प्लेटफार्म, मेहनतकश वर्गों के संगठन और निम्न-बुर्जुआ वर्ग के कुछ रैडिकल संगठन ही शामिल हो सकते हैं।

मुख्य बात यह ध्यान में रखने की है कि फासिज़्म विरोधी संघर्ष का सवाल किसी फासिस्ट पार्टी को संसदीय चुनाव में हराने का सवाल नहीं है। चुनाव हारकर भी फासिस्ट समाज में अपनी प्रतिक्रान्तिकारी कार्रवाइयाँ जारी रखेंगे। फासिज़्म निम्न बुर्जुआ वर्ग का तृणमूल स्तर से (एक कैडर आधारित दल द्वारा) संगठित धुर-प्रतिक्रियावादी सामाजिक आन्दोलन (एक रूमानी उभार) है, जिसे मेहनतकश वर्गों का जुझारू प्रगतिशील सामाजिक आन्दोलन तृणमूल स्तर से खड़ा करके ही पीछे धकेला जा सकता है।

ब्राजील के राष्ट्रपति चुनाव में फासिस्ट बोलसोनारो की जीत ने स्पष्ट कर दिया है कि संकटग्रस्त बुर्जुआ वर्ग ने अपनी रक्षा के लिए कुत्ते की जंज़ीर को ढीला छोड़ दिया है। दैत्य-दुर्ग के पिछवाड़े सम्भावित तूफान से आतंकित अमेरिकी साम्राज्यवाद भी इस फासिस्ट की पीठ पर खड़ा है। एक दिलचस्प जानकारी यह भी है कि जायर बोलसोनारो इतालवी-जर्मन मूल का ब्राजीली नागरिक है। उसका नाना हिटलर की नात्सी सेना में सिपाही था। ब्राजील में बोलसोनारो का सत्तारूढ़ होना अपने-आप में इस सच्चाई को साबित करता है कि तथाकथित समाजवाद का जो नया सामाजिक जनवादी मॉडल लातिन अमेरिका के कई देशों में गत क़रीब दो दशकों के दौरान स्थापित हुआ था (जिसके हमारे देश के संसदीय जड़वामन वामपन्थी भी खूब मुरीद हो गये थे), वह सामाजिक जनवादी गुलाबी लहर ('पिंक टाइड') भी अब उतार पर है। दरअसल यह तथाकथित समाजवाद (चाहे वह लूला का समझौतापरस्ता चेहरे वाला हो या शावेज़ का गरम चेहरे वाला) बुर्जुआ "कल्याणकारी राज्य" का ही एक नया सामाजिक जनवादी संस्करण है। इन सभी लातिन अमेरिकी देशों में जो लोकप्रिय सरकारें क़ायम हुई थीं, उन्होंने बुर्जुआ राज्यसत्ता का ध्वंस करके सर्वहारा राज्यसत्ता की स्थापना नहीं की थी। बुर्जुआ सामाजिक ढाँचे और बुर्जुआ हितों को बरक़रार रखते हुए इन सरकारों ने शिक्षा, स्वास्थ्य, रोजगार के क्षेत्र में कुछ सुधारपरक कदम उठाये थे और कुछ सेक्टरों में राष्ट्रीकरण के काम को अंजाम दिया था। अब कोई मतिमन्दा ही मात्र इन कदमों के आधार पर किसी सत्ता को समाजवाद कह सकता है। लातिन अमेरिका में चीले में आयेन्दे के तख़्तापलट और निकारागुआ में सान्दिनिस्ता के नवउदारवादी विपथगमन की घटनाएँ पहले भी घट चुकी हैं। अभी जो समाजवाद नामधारी "कल्याणकारी राज्य" चल रहे हैं, बुर्जुआ दायरे में वे एक सीमा तक जनता को कुछ दे सकते हैं। फिर सन्तृप्तिबिन्दु पर पहुँचकर उनको संकटग्रस्त' होना ही है। ऐसी स्थिति में वे या तो स्वयं निकारागुआ के सान्दिनिस्ता की तरह नवउदारवाद की राह पकड़ सकते हैं, या फिर अमेरिका समर्थित तख़्तापलट के शिकार हो सकते हैं, या फिर ब्राजील जैसे बुर्जुआ संसदीय चुनाव में उन्हें हराकार कोई धुर-दक्षिणपन्थी या फासिस्ट पार्टी सत्ता रूढ़ हो सकती है। ब्राजील का अनुभव एक बार फिर यही सिद्ध करता है कि फासिज़्म या हर प्रकार की धुर-दक्षिणपन्थी राजनीति के उभार का मुकाबला सामाजिक जनवाद या संसदीय वामपंथ की कोई "गुलाबी लहर" नहीं कर सकती। जबतक दुनिया में एक सच्ची क्रान्तिकारी लाल लहर नहीं संगठित होगी, फासिज़्म और धुर-दक्षिणपन्थी राजनीति की बर्बरता और कहर को दुनिया झेलती रहेगी।

कहानी

# न्याय की दहलीज़ पर

●फ्रांज़ काफ़्का

न्याय की दहलीज़ पर एक सन्तरी खड़ा है। इस सन्तरी के पास देहात से एक आदमी पहुँचता है, और न्याय के समक्ष दाखिले की इजाज़त मांगता है। पर सन्तरी कहता है कि वह उस वक्त उसके दाखिले को मंज़ूर नहीं कर सकता है। आदमी इस पर गौर करता है और फिर पूछता है क्या बाद में उसे अन्दर जाने की अनुमति मिल सकती है? "ऐसा मुमकिन है", सन्तरी कहता है, "पर इस वक्त नहीं" चूँकि द्वार खुला है, बदस्तूर, और सन्तरी द्वार के किनारे खिसक गया है, वह आदमी द्वार से अन्दर झांकने के लिए झुकता है। यह देख सन्तरी हँसता है और कहता है, "अगर तुम्हें इतनी ही बेसब्री है, तो जाओ, मेरे मना करने के बावजूद अन्दर जाने की कोशिश कर ही लो, पर खयाल रखना, मैं ताकतवर हूँ, और सारे सन्तरियों में सबसे अदना हूँ। एक कमरे से होकर दूसरे कमरे में जाओ, तुम्हें एक के बाद दूसरा सन्तरी मिलेगा, हर एक अपने पहले वाले से ज्यादा ताकतवर। तीसरा वाला ही इतना खौफनाक है कि मैं उसकी ओर देखने की भी हिम्मत नहीं कर पाता हूँ। ये वे मुश्किलें हैं जिनकी उम्मीद देहात से आया हुआ आदमी नहीं कर सकता है। इंसाफ तो, वह सोचता है, हमेशा मयस्सर होना चाहिये और हर एक के लिए, पर अब जब वह फरकोट में सन्तरी को, उसकी बड़ी और तीखी नाक, उसकी लंबी पतली और काली कड़ी दाढ़ी के साथ देखता है तो तय कर लेता है कि मंजूरी मिलने तक इन्तज़ार कर लेने में ही भलाई है। सन्तरी उसे एक स्टूल देता है और दरवाजे के बगल में बैठने की इजाज़त। उस पर वह दिनों और सालों बैठा रहता है। दाखिला पाने की तमाम कोशिशें वह करता है, और अपनी नाहक मनुहारों से सन्तरी को परेशान करता है। सन्तरी उसके साथ अक्सर छोटी-छोटी गुफ्तगू करता है, उसके घर के बारें में व तमाम अन्य चीज़ों के बारे में सवाल पूछता है, पर ये सवाल बेरूखी से पूछे जाते हैं, जैसे कि महाप्रभु लोग पूछते हैं, और हमेशा इस मन्तव्य के साथ ख़त्म होते हैं कि उसके दाखिले की घड़ी अभी नहीं आयी है। वह आदमी जो अपने सफर के लिए खुद के साथ अनेक सामान लेकर आया है, सबकुछ, अनमोल से अनमोल, सन्तरी को रिश्वत में भेंट चढ़ा देता है। सन्तरी हर एक चीज़ स्वीकार कर लेता है, पर हमेशा इस मंतव्य के साथ "मैं यह ले बस इसलिए रहा हूँ ताकि तुम्हें न लगे कि तुमसे कोई बात अनकही रह गयी है।" इन अनेक सालों के दरमियाँ आदमी ने लगभग एकटक अपना ध्यान सन्तरी पर लगा रखा है। वह दूसरे सन्तरियों को भूल जाता है, और उसे लगता है कि यह पहला सन्तरी ही उसके रास्ते का एकमात्र रोड़ा है जो उसे न्याय के सामने पहुँचने से रोक रहा है। वह अपनी बदकिस्मती को बद्दुआएँ देता है, अपनी नौजवानी में ऊँची बुलन्द आवाजों में, बाद में जैसे वह बूढ़ा होता है, वह अपने में बड़बड़ाता है। वह नादान सा होने लगा है, और इतने सालों से सन्तरी पर लगे ध्यान में उसने उसके फर के कॉलर में रेंगती जुओं को भी जान लिया है, वह अब इन जुओं से भी विनती करता है कि वे उसकी मदद करें और सन्तरी के मन को बदल दें। अन्त में, उसकी आँखों की रोशनी जाने लगती है, वह नहीं जानता है कि दुनिया अधिक अंधेरी है या उसकी अपनी आँखें उसे धोखा दे रही हैं। फिर भी अपने अंधेरे में उसे एक उजाले का अहसास हो रहा है जो कि न्याय के दरवाजे से अनिर्वाण उत्सरित हो रहा है। अब उसकी ज़िन्दगी के चंद लम्हे ही बाकी हैं। मरने से पहले, गुज़र चुके इन लंबे सालों के सारे अनुभव अब उसके दिमाग के एक बिन्दु पर आ मिल रहे हैं, एक सवाल जिसे उसने आज तक सन्तरी से नहीं पूछा है। हाथ के इशारे से वह उसे पास बुलाता है, क्योंकि अपने अकड़ गये शरीर को वह अब सीधा नहीं कर पाता है। सन्तरी को उसकी ओर नीचे झुकना पड़ता है, क्योंकि कदों की लंबाइयों का अन्तर अब बदलकर सम्पूर्ण रूप से उस आदमी का प्रतिकूल हो गया है। "अब तुम क्या जानना चाहते हो?" सन्तरी पूछता है, "तुम्हारी जिज्ञासा कभी भी शांत नहीं होती। हर कोई न्याय पाना चाहता है", आदमी कहता है, "तो फिर ऐसा कैसे हो पाया कि इतने सालों में मेरे सिवा और कोई भी नहीं आया जिसने अन्दर दाखिले के लिए मिन्नतें की?" सन्तरी समझ जाता है कि आदमी अब अपनी मौत की दहलीज़ पर खड़ा है और ताकि उसके बुझते हुए होश को शब्दों का अहसास हो, वह उसके कानों पर गरज कर बोलता है "और किसी का यहाँ से अन्दर दाखिला कभी भी नहीं हो सकता, क्योंकि यह दरवाजा, सिर्फ़ तुम्हारे लिए ही बना है। अब मैं इसे बन्द करता हूँ।" (समाप्त)

## 2022 तक सबको मकान देने का जुमला उछालने वाली मोदी सरकार ने फिर से किया

# दिल्ली में सैकड़ों झुग्गियों को ज़मींदोज़!

●सिमरन

5 नवम्बर 2018 को दिल्ली के शाहबाद डेरी इलाके के सैकड़ों झुग्गीवालों के घरों को डी.डी.ए. ने ज़मींदोज़ कर दिया। 300 से भी ज़्यादा झुग्गियों को चंद घण्टों में बिना किसी नोटिस या पूर्वसूचना के अचानक मिट्टी में मिला दिया गया। सालों से शाहबाद डेरी के मुलानी कैंप की झुग्गियों में रहने वाले लोगों को सड़क पर पटक दिया गया। न तो केंद्र सरकार ने झुग्गीवालों के रहने के लिए कोई इंतज़ाम किया और न ही राज्य सरकार ने उनकी टोह ली। दिल्ली जैसे महानगर में पिछले कई सालों में सर्दी शुरू होने के साथ झुग्गियाँ टूटने की ऐसी खबरें जैसे आम सी बात बन चुकी है। आवास एवं भूमि अधिकार नेटवर्क (हाउसिंग एंड लैंड राइट्स नेटवर्क) की फरवरी 2018 की एक रिपोर्ट के मुताबिक भारत में अकेले 2017 में ही राज्य एवं केंद्र सरकारों द्वारा 53,700 झुग्गियों को ज़मींदोज़ किया गया जिसके चलते 2.6 लाख से ज़्यादा लोग बेघर हो गये।इस रिपोर्ट के मुताबिक भारत में हर घण्टे 6 घरों को तबाह किया गया। खुद आवास एवं भूमि अधिकार नेटवर्क की रिपोर्ट यह कहती है कि यह आँकड़ें सिर्फ़ उन घटनाओं से हासिल हो पाये हैं जो शोध में उनके सामने आयीं।2016 के मुकाबले 2017 में झुग्गियों को तोड़े जाने की कार्यवाही और तेज़ हुई है। और यह सब तब अन्जाम दिया जा रहा है जब मोदी सरकार 2022 तक प्रधानमन्त्री आवास योजना के तहत सबको घर देने की डींग हाँक रही है। लोगों को पक्के मकान देना तो दूर की बात है सरकार उनकी मेहनत की पाई-पाई से जोड़कर खड़ी की गयी झुग्गियों को तोड़ने की कवायद और तेज़ कर रही है। शाहबाद डेरी के मुलानी कैंप की बात हो या पिछले कुछ सालों में शकूर बस्ती, शास्त्री पार्क, वज़ीरपुर, कठपुतली कॉलोनी जैसी अन्य झुग्गी-बस्तियों की बात हो। दिल्ली की कड़ाके की ठण्ड में मेहनतकश-गरीब आबादी के सिर से छत छीन उसे सड़कों को जीने के लिए मजबूर कर दिया जाता है। और सबसे हैरत की बात यह है कि मेहनतकश-गरीब आबादी के घरों को शहरों के सौंदर्यीकरण और झुग्गी-मुक्त शहर बनाने के नाम पर उजाड़ा गया है। 2017 में उजाड़ी गयी झुग्गियों में से 46 प्रतिशत को शहरों के सौंदर्यीकरण के नाम पर ज़मींदोज़ किया गया। शहरों की रफ़्तार जिन कन्धों पर टिकी होती है उसी मेहनतकश आबादी के घरों को शहर की सुंदरता पर धब्बा समझा जाता है। जिस मेहनतकश आबादी के बलबूते दिल्ली जैसे महानगर की चमचमाती इमारतों से लेकर इसकी फैक्टरियों में काम चलता है, बसों से लेकर मेट्रो, सड़क की सफ़ाई, घरों की सफाई से लेकर गटर की सफ़ाई तक, सब्ज़ी से लेकर ज़िन्दगी की हर ज़रूरत का सामान घरों तक पहुँचता है उसी आबादी के घरों को यह व्यवस्था गन्दगी समझती है। सुई से लेकर जहाज़ तक बनाने वाले मज़दूरों के बच्चों के सर से ही सबसे पहले छत छीन ली जाती है। इससे ज़्यादा विरोधाभास की बू किस तथ्य से आ सकती है। कामनवेल्थ खेलों के समय उजाड़ी गयी झुग्गियों की बात हो या मेहनतकश आबादी के रहने वाले इलाकों के आगे नीले रंग का टीन लगाकर छुपाने की कायरता हो। इस देश की सरकारें चाहे वो किसी पार्टी की ही क्यों न हो ने हर हमेशा मेहनतकश आबादी की पीठ में छुरा भोंका है। इस देश का संविधान सबको बराबरी का हक़ देता है, यह बात कागज़ों पर ज़रूर पढ़ने को मिल जाती है। लेकिन हक़ीक़त से सामने होने पर यह हवा-हवाई बात ही साबित होती है। और इसका सबसे बड़ा सबूत गरीबों की बस्तियों पर चलाये जाने वाले बुलडोज़र हैं। मुंबई की कैम्पा कोला सोसाइटी के बारे में शायद आपने अख़बारों में पढ़ा होगा, यह मुंबई में ग़ैर-क़ानूनी रूप से बनायी गयी एक इमारत है जिसे मुंबई मुन्सिपलिटी 2002 से तोड़ नहीं पायी है क्योंकि इस इमारत में रहने वाले लोगों के कोर्ट जाकर अपने और अपने बच्चों के भविष्य की गुहार लगाते हुए राहत देने की गुहार की है। यह मामला अभी भी कोर्ट में चल रहा है। और इस ईमारत में रहने वाले लोग आज भी अपने घर की छत के नीचे ज़िन्दगी गुज़ार रहे हैं। लेकिन झुग्गियों के ग़ैर-क़ानूनी होने की दुहाई देते हुए न सिर्फ़ मुंबई में बल्कि दिल्ली, चेन्नयी, कलकत्ता और भारत के विभिन्न शहरों में आये दिन मेहनतकश आबादी को बेघर किया जा रहा है। और ऐसा करते हुए हाई कोर्ट से लेकर सुप्रीम कोर्ट के सारे निर्देशों का खुला मख़ौल उड़ाया जा रहा है। संविधान का अनुच्छेद 21 आवास के अधिकार को जीवन के अधिकार (राइट टू लाइफ) का अभिन्न अंग मानता है। इसके बावजूद मेहनतकश आबादी के घरों को बेरोकटोक तोड़ा जा रहा है। मार्च 2017 से लेकर सितम्बर 2017 के बीच डीडीए ने दिल्ली के किशनगढ़, बलजीत नगर और शास्त्री पार्क में बिना किसी

पूर्वसूचना के झुग्गियों को अतिक्रमण हटाने के नाम पर तोड़ दिया। गौर करने की बात है कि दिल्ली हाई कोर्ट के द्वारा जारी एक आर्डर के तहत किसी वैकल्पिक रहने के इंतज़ाम के बिना किसी भी झुग्गी को न तोड़े जाने के निर्देश है। लेकिन इन सभी निर्देशों का खुला उल्लंघन करते हुए कड़कड़ाती सर्दी में लोगों को उनके हाल पर छोड़ दिया जाता है। इतना ही नहीं झुग्गियों को तोड़ने से पहले न ही झुग्गीवालों को पर्याप्त समय दिया जाता है कि वो अपना सामान और अपनी जमा-पूँजी अपने घरों से निकाल पाएँ। अक्टूबर 2017 में डीडीए ने कठपुतली कॉलोनी में 2000 घरों को तोड़ने के लिए बड़ी निर्ममता के साथ भारी पुलिस बल और आँसू गैस का इस्तेमाल किया। कई दशकों से वहाँ रह रहें लोगों की ज़िन्दगी भर की जमा पूँजी को बुलडोज़रों ने रौंद दिया और अपने घरों को बख़्श देने की गुहार लगाने वाले झुग्गीवासियों पर आँसू-गैस के गोले और पुलिस की लाठियाँ भाँजी गयी। पिछले साल के अंत में फ्लाईओवरों के सौंदर्यीकरण के नाम पर उनके नीचे सोने वाले लोगों को भी वहाँ से हटा दिया गया। इन सब घटनाओं से जो सवाल पैदा होता है वह यह है कि शहर आख़िर बनता किससे है? क्या शहरों की झुग्गी-बस्तियों में रहने वाली बहुसंख्य आबादी का इस शहर पर कोई हक़ नहीं ? क्या उन हाथों को जो इस शहर को अपनी मेहनत से चलाते हैं रहने के लिए कच्चा ही सही लेकिन घर देना भी इस व्यवस्था के लिए सम्भव नहीं? क्या झुग्गी-मुक्त शहर बनाने के लिए झुग्गीवालों के सिर से छत छीन लेना एक बेहूदा मज़ाक नहीं है ? हर चुनाव से पहले झुग्गीवालों की उन्ही बस्तियों में जाकर वोट माँगने वाले नेता-मंत्रियों को चुनाव जीत जाने के बाद वही झुग्गियाँ शहर की गन्दगी प्रतीत होती है। अतिक्रमण के नाम पर 40 से 50 साल से एक झुग्गी-बस्ती में रह रहे लोगों, जिनके पास वहाँ के वोटर कार्ड से लेकर बिजली का बिल सब है को रातो-रात वहाँ खदेड़ दिया जाता है। इससे बड़ी नाइन्साफ़ी क्या हो सकती है। अगर वाकई में सरकार को झुग्गीवालों की फ़िक्र होती तो उन्हें सड़कों पर पटकने की बजाय वो उनके लिए रहने का बंदोबस्त करती, झुग्गी की जगह उन्हें पक्के मकान देती। लेकिन पब्लिक लैंड यानि सार्वजनिक ज़मीन को अतिक्रमण मुक्त कराने और फिर बड़े-बड़े बिल्डरों को बहुमंज़िला इमारत बनाने के लिए बेचने में कोई हिचक न रखने वाली सरकार को मेहनतकश आबादी की क्या फ़िक्र! वास्तव में जिस पूँजीवादी व्यस्था के भीतर आज हम जी रहे हैं उसमें मेहनतकशों का शोषण सिर्फ़ उनके काम करने की जगह पर ही नहीं होता बल्कि कारख़ानों, फैक्टरियों से निकल कर जिन दड़बेनुमा झुग्गियों में उन्हें जीने के लिए विवश किया जाता है वहाँ भी लगातार उनकी मानवीय गरिमा पर चोट की जाती है। इस व्यवस्था में मज़दूरों और मेहनतकशों की मेहनत की लूट कागज़ों पर ग़ैर-क़ानूनी होने के बावजूद भी उचित मानी जाती है। ठीक उसी तरह जिस तरह उनके घरों को ग़ैर-क़ानूनी या अतिक्रमण बता कर कभी भी ज़मींदोज़ किये जाने की कार्यवाही को उचित ठहराया जाता है।अपने आप को मज़दूर नंबर 1 कहने वाले प्रधानमन्त्री मोदी और खुद को आम आदमी कहने वाले मुख्यमन्त्री को दिल्ली की मेहनतकश आबादी को यह ज़वाब देना ही होगा कि जब उनके घरौंदों को उजाड़ा जा रहा था तब वे चुप क्यों थे। मोदी सरकार की प्रधानमंत्री आवास योजना की हक़ीक़त यही है। यही इस देश की मेहनतकश आबादी की ज़िन्दगी का कड़वा सच है कि अपनी मेहनत से शहरों को चलाने और उसकी चकाचौंध को बरकरार रखने वाले हाथों के घर ही इस व्यवस्था की सेवा में लगी सरकार को शहरों की गन्दगी मालूम पड़ते हैं।

## अच्छे दिनों की मृगतृष्णा...

(पेज 25 से जारी)

असन्तोष के शिकार वर्गों को हर एक चीज़ देने, मगर वास्तव में कुछ भी न देने, का वादा करते हैं। फासीवादी विचारधारा और राजनीति अपने विचार पद्धति के जरिये एकदम असमान, असम्बद्ध प्रकार के और अक्सर आपस में अन्तर्विरोधी किस्म के असन्तोष, आकांक्षाओं और सपनों को एक सर्वसमावेशी (महंगाई, गरीबी, काला धन पूँजीवाद में पैदा होंगे ही , इन्हें इस व्यवस्था में दूर नहीं किया जा सकता) या कहे सर्वसत्तावादी किस्म के लोकरंजक राजनीति ढांचे में सम्मिलित कर लेते हैं। 'अच्छे दिन आने वाले हैं' जैसे नारों की सच्चाई यही होती है कि यह प्रचार सच्चाई से जितना दूर और जितना रूमानी फंतासी के करीब होता है उतना प्रभावी होता है। इसके जरिये यह जनसमुदाय विशेषकर टटपुँजिया जनसमुदाय के बीच मौजूद प्रतिक्रियावादी सम्भावनाओं को वास्तविकता में तब्दील कर सकता है। ऐसे में क्रान्तिकारी प्रचार की अहमियत सबसे ज्यादा बढ़ जाती है। इससे लड़ने का तरीका यही है कि आज फासीवादी प्रचार के विरुद्ध क्रान्तिकारी ताकतों को प्रचार करना चाहिए और उसकी असत्यता को जनता के बीच उघाड़कर रख देना चाहिए। फासीवादियों के बीच व्याप्त अनैतिकता और भ्रष्टाचार को लगातार बेनकाब करना चाहिए क्योंकि इन्हें अपनी राजनीति को सफल बनाने के लिए हमेशा एक आभामण्डल की आवश्यकता होती है (आसिफा, गौरक्षा पर मोदी की चुप्पी)। इस सब के लिए जनसमुदाय को उनके जीवन की ठोस भौतिक, सामाजिक और आर्थिक मांगों के लिए लगातार गोलबंद और संगठित करना चाहिए (शिक्षा, चिकित्सा रोजगार आदि मुद्दे), उन्हें यह समझाना चाहिए कि उनके जीवन में यह समस्या क्यों है, उसके लिए कौन जिम्मेदार है। इन सबके साथ-साथ सर्वहारा पुनर्जागरण और प्रबोधन के कार्यभार को पूरा करना भी जरूरी होता है।

गतिविधि

# ऑटोमोबाइल इंडस्ट्री कॉन्ट्रैक्ट वर्कर्स यूनियन का प्रथम सम्मेलन सफलतापूर्वक सम्पन्न

7 अक्टूबर, 2018 को गुड़गाँव में 'ऑटोमोबाइल इंडस्ट्री कॉन्ट्रैक्ट वर्कर्स यूनियन' के बैनर तले 'ऑटोमोबाइल मज़दूर सम्मेलन' का सफल आयोजन किया गया। इस आयोजन में गुड़गाँव, धारूहेड़ा, मानेसर इत्यादि इलाकों से ऑटोमोबाइल क्षेत्र के मज़दूरों ने शिरकत की। यूनियन के संयोजक अनंत ने सम्मेलन की ज़रूरत पर ज़ोर देते हुए कहा कि ऑटोमोबाइल सेक्टर में मज़दूर आन्दोलन पिछले लम्बे समय से एक गतिरोध का शिकार है। इस सेक्टर में पिछले 2 दशकों में मालिक वर्ग-प्रशासन को चुनौती देने वाले आन्दोलन पूरी ऊर्जा के साथ खड़े हुए लेकिन मुकाम तक पहुँच पाने में नाकामयाब रहे। उन्होंने आगे कहा कि बावल से लेकर गुड़गाँव तक रजिस्टर्ड यूनियनों के ऊपर हमले किये गये हैं और छंटनी की तलवार ठेका मज़दूरों के साथ अब स्थायी मजदूरों के सर पर भी लटक रही है। इन्हीं परिस्थितियों में पिछले एक दशक से जारी मज़दूर आन्दोलन के संघर्षों का निचोड़ निकालने के उद्देश्य से इस सम्मेलन का आयोजन किया गया था। ठेका मजदूरों को गोलबन्द करने के साथ ही ठेका और स्थायी मज़दूरों की एकता की ज़रूरत पर बल दिया गया।

ऑटोमोबाइल इंडस्ट्री कांट्रैक्ट वर्कर्स यूनियन के सनी ने बात रखते हुए पिछले 20 वर्षों मे ऑटोमोबाइल सेक्टर में लगातार बढ़ते ठेकाकरण की प्रक्रिया की तथ्यों के माध्यम से एक तस्वीर पेश की। उन्होंने बताया की ऑटोमोबाइल सेक्टर देश का सबसे अहम सेक्टर है। पूरी जीडीपी में 10 प्रतिशत का योगदान ऑटोमोबाइल सेक्टर की ओर से होता है। पूरे सेक्टर में ठेके पर काम कर रहे मज़दूरों की संख्या मे भारी बढ़ोत्तरी दर्ज़ की गयी है। मुख्य कारखाने और उनके साथ जुड़ी वेंडर कम्पनियों के बीच के सम्बन्ध और उन कारखानों में खटने वाले ठेका मज़दूरों के काम के भयंकर हालात पेश किए। मज़दूरों को निचोड़ने के लिए समय के साथ ही मालिक वर्ग नयी तकनीक अपनाता है। अपनी बात को समेटते हुए उन्होंने कहा कि आज सेक्टरगत आधार पर ठेका मज़दूरों की एक यूनियन बनाने की ज़रूरत है। साथ ही आज ठेका और स्थायी मज़दूरों की एकता कायम करने की भी ज़रूरत है।

आइसिन कम्पनी के संघर्ष में सक्रिय रहे उमेश ने आइसिन के मज़दूरों के संघर्ष की एक तस्वीर पेश की। उन्होंने कहा कि यूनियन के पंजीकरण की उनकी जायज़ माँग पर मालिक और प्रशासन के गठजोड़ ने हमला किया। पुलिस बल के इस्तेमाल से संघर्ष को तोड़ने में प्रशासन ने कोई कोर कसर नहीं छोड़ी परन्तु मज़दूरों के हौसलों को तोड़ पाने में मालिक-प्रशासन-सरकार का गठजोड़ नाकाम रहा। आज मज़दूरों को अपनी व्यापक एकता कायम करने की ज़रूरत है, सरकार और मालिक वर्ग के गठजोड़ को तोड़ने का यही एकमात्र रास्ता है। रीको के प्रेमबहादुर ने भी विस्तार से रीको के संघर्ष की कहानी बयान की और मज़दूरों की एकजुटता की ज़रूरत पर बल दिया। होण्डा टप्पुकड़ा से सुरेन्द्र व राजपाल भी सम्मेलन में शामिल हुए। सुरेन्द्र ने और राजपाल ने होण्डा टप्पुकड़ा के साथ ही मज़दूर संघर्ष समिति के अनुभव भी साझा किये। उन्होंने राजस्थान की वसुंधरा सरकार द्वारा राजस्थान में मज़दूरों के भयंकर दमन की सच्चाईयों को उजागर किया। साथ ही ऑटोमोबाइल इंडस्ट्री कांट्रैक्ट वर्कर्स यूनियन के इस पहल को प्रशंसनीय कदम बताते हुए अपनी एकजुटता ज़ाहिर की। डाइकिन से मनमोहन ने भी अपने अनुभव सदन के सामने रखे व इलाकाई एकता व सेक्टरगत एकता को खड़ा करने की बात पर बल दिया व डाइकिन यूनियन को खड़ा करने के दौरान लड़े संघर्षों का भी संक्षिप्त ब्यौरा दिया।

बिगुल मज़दूर दस्ता की ओर से अजय ने ऑटोमोबाइल सेक्टर में पिछले 20 वर्षों के दौरान चले संघर्षों का एक समाहार पेश किया। उन्होंने कहा कि ठेका मज़दूरों के मुद्दे संघर्षों में कभी मुख्य तौर पर नहीं उठाये गये हैं। तमाम यूनियनें ठेका मज़दूरों की माँगों को उठाती ही नहीं हैं, और यदि उठाएँ भी तो सिर्फ औपचारिकता निभाने के लिए उठाती हैं। ज़्यादातर संघर्षों में हार का यही एक कारण रहा है। आन्दोलन के शुरुआती दौर में ठेका मज़दूर जुड़ तो जाते हैं लेकिन समय के साथ उनकी

माँगों को नज़रअंदाज़ किए जाने के कारण मोहभंग होने के चलते आन्दोलन से पीछे हट जाते हैं। नतीजन स्थायी मज़दूरों की ताकत कमज़ोर पड़ जाती है। आज जिस कदर छोटी-छोटी फैक्टरियों में काम बाँट दिया गया है इन हालात में फैक्ट्री के आधार पर यूनियन बना कर संघर्ष लड़ने का सफल नतीजा मिल पाना बेहद मुश्किल है। अजय ने मारुति और होंडा के संघर्षों के उदाहरण से और उनका समाहार पेश करते हुए मज़दूरों को संघर्षों में केंद्रीय ट्रेड यूनियनों की भूमिका पर भी सोचने का सुझाव दिया। उन्होंने नतीजों के तौर पर ठेका मज़दूरों की एक यूनियन और ठेका व स्थायी मज़दूरों की एकता कायम कर ऑटोमोबाइल सेक्टर मे संघर्षों के गतिरोध को तोड़ने के लिए ज़रूरी संबल बताया।

आटोमोबाइल इंडस्ट्री कांट्रैक्ट वर्कर्स यूनियन की ओर से शाम ने बात रखते हुए ऑटोमोबाइल सेक्टर में काम करने वाले मज़दूरों की ज़िन्दगी के अलग-अलग आयामों को पेश किया। एक ओर कारखानों में मज़दूरों का शोषण उनकी काम करने की क्षमता निचोड़ने तक किया जाता है , सुरक्षा के कोई इंतजाम नहीं किए जाते हैं, वहीं दूसरी ओर काम से लौट कर लॉज में उनकी नारकीय ज़िन्दगी की तस्वीर पेश की। एक-एक लॉज में चार-चार मज़दूर रहने को मजबूर होते हैं। मालिक, ठेकेदार और मकानमालिक के मकड़जाल में मज़दूर बुरी तरह फँसे हुए होते हैं। एक तरफ गुड़गाँव की चमकती हुई इमारतें हैं और दूसरी ओर फैक्ट्री कारखानों से सटे रिहायशी इलाकों में बसने वाले मज़दूरों के लॉज हैं।

बिगुल मज़दूर दस्ता से जुड़ीं व ऑटोमोबाइल इंडस्ट्री कांट्रैक्ट वर्कर्स यूनियन की कानूनी सलाहकार शिवानी ने पिछले संघर्षों का समाहार करते हुए आगे के संघर्ष की एक रणनीति पेश करते हुए कहा कि आज सेक्टरगत आधार पर मज़दूरों की एकता कायम करनी होगी तथा इसमें ठेका मज़दूरों की ज़रूरी भूमिका होगी क्योंकि ऑटोमोबाइल पट्टी में करीबन 84 प्रतिशत मज़दूर ठेके के तहत ही काम करते हैं। यूनियन मजदूरों की मालिक-प्रशासन के खिलाफ समूहिक ताकत होती है। आज ऑटोमोबाइल सेक्टर की एक स्वतंत्र ट्रेड यूनियन का निर्माण ही मज़दूर वर्ग के लिए सबसे ज़रूरी काम है। स्थायी मज़दूरों की संख्या को कम करने के लिए फ़िक्स्ड टर्म एम्प्लोयेमेंट जैसी नीतियाँ लागू की जा रही हैं। इस मसले पर अन्य वक्ताओं की बातों को रेखांकित करते हुए उन्होंने भी आज ठेका और स्थायी मज़दूरों की एकता को ज़रूरी बताया। इसके अलावा मज़दूरों के पी.एफ., ठेका मज़दूर से जुड़े कानूनों व इंडस्ट्रियल डिसप्यूट एक्ट के सम्बन्ध में कानूनी राय भी रखी।

सम्मेलन में मज़दूरों ने कई प्रस्ताव भी पारित किए। ठेका मज़दूरों की सेक्टरगत यूनियन कायम करने के साथ ही मारुति के मज़दूरों को रिहा करने की माँग उठाई जाएगी, 7 फैक्ट्रियों मे हुए गैर-कानूनी तालाबंदी के खिलाफ आवाज़ उठाई जाएगी, सुरक्षा के पुख्ते इंतेजाम और न्यूनतम वेतन 20,000 करवाए जाने के अलावा अन्य माँगों पर ध्वनिमत से हाथ उठाकर प्रस्ताव पारित किए गये। मज़दूर सम्मेलन के समर्थन में ऑस्ट्रेलिया एशिया वर्कर्स लिंक की ओर से भी समर्थन पत्र भेज कर इस कदम की सराहना की गयी। साथ ही अमरीका के ग्रुप एमसीजी ने भी क्रांतिकारी एकजुटता पेश की। इसके अलावा पंजाब से कारख़ाना मज़दूर यूनियन और टेक्सटाइल हौज़री यूनियन, दिल्ली की पंजीकृत दिल्ली इस्पात उद्योग मज़दूर यूनियन व दिल्ली मेट्रो रेल कांट्रैक्ट वर्कर्स यूनियन के साथ ही दिल्ली स्टेट की आँगनवाड़ी वर्कर्स एण्ड हेलपेर्स यूनियन की ओर से भी समर्थन पत्र भेज कर क्रान्तिकारी अभिवादन पेश किया गया।

## नौजवान भारत सभा दिल्ली का प्रथम राज्य सम्मेलन सफलतापूर्वक सम्पन्न

नौजवान भारत सभा, दिल्ली ने 30 सितम्बर रविवार को सोनिया विहार में अपना प्रथम राज्य सम्मलेन सफलतापूर्वक सम्पन्न किया। सम्मेलन की शुरुआत शहीद भगतसिंह को उनके 111वें जन्मदिवस (28 सितम्बर, 2018) पर याद करते हुए उनकी तस्वीर पर माल्यार्पण और 'विहान' द्वारा 'मेरा रंग दे बसंती चोला ..' गीत से हुई। सम्मेलन की औपचारिक शुरुआत संयोजक की ओर से दिल्ली में 2005 से अब तक के कार्यों की रिपोर्ट पेश कर की गयी। संयोजक की रिपोर्ट पर नौभास के सदस्यों द्वारा बातचीत रखी गई। इसके बाद दिल्ली राज्य कमेटी तथा पदाधिकारियों का चुनाव हुआ। नौभास सदस्यों द्वारा दिल्ली राज्य कमेटी में विशाल, भारत, भास्कर, करन, राकेश, अदिति, खालिद, हाशिम और योगेश चुने गये। इस कमेटी द्वारा सचिव पद पर विशाल और कोषाध्यक्ष पद पर भारत का चुनाव हुआ। इस सम्मेलन में बिगुल मजदूर दस्ता के सनी तथा पर्यवेक्षक के तौर पर नौजवान भारत सभा के राष्ट्रीय अध्यक्ष अरविन्द व ऑटोमोबाइल इंडस्ट्री कॉन्ट्रैक्ट वर्कर्स यूनियन के शाम और रवि ने शिरकत की तथा युवाओं की हौसला अफजाई की। सम्मेलन के दौरान विभिन्न सामाजिक विषयों पर 4 प्रस्ताव पेश किए गये तथा इन्हें सर्वसम्मति से पारित किया गया। इसके अलावा सदन से भी नौभास के सदस्यों व नागरिको ने भी कई विषयों पर अपने वक्तव्य रखे। विहान की ओर से क्रान्तिकारी गीतों की प्रस्तुति भी की गयी। सम्मेलन के अंत में सोनिया विहार इलाके में गगनभेदी नारों के साथ एक जुलूस निकाला गया। सम्मेलन में लगभग 80 लोगों की भागीदारी रही।

# मुक्तिकामी छात्रों-युवाओं का

# आह्वान

**आह्वान के नियमित पाठकों के लिए एक विशेष उपहार :**

**आह्वान के सभी उपलब्ध अंकों का सेट मात्र रु. 200 में!**

**(डाक व्यय अतिरिक्त)**

**दिलचस्पी रखने वाले सभी पाठक लिखें :**

संपादकीय कार्यालय

बी-100, मुकुन्द विहार, करावल नगर, दिल्ली-90

9999750940

# खत्म करो पूँजी का राज लड़ो, बनाओ लोक-स्वराज!

हम पूँजीवादी संसदीय जनतंत्र की खर्चीली धोखाधड़ी, लूटतंत्र और दमनतंत्र को सिरे से ख़ारिज करते हैं। हम पंचायती राज की कपटपूर्ण सरकारी नौटंकी को भी सिरे से ख़ारिज करते हैं। समय के गर्भ में आज महत्त्वपूर्ण बदलाव के बीज पल रहे हैं। विकल्प के निर्माण के लिए उन्हें ही आगे आना होगा जो ठगे जा रहे हैं, लूटे जा रहे हैं और आवाज़ उठाने पर कुचले जा रहे हैं। इस व्यवस्था में जिनका कोई भविष्य नहीं है, उन्हें ही नयी व्यवस्था बनाने के लिए आगे आना होगा।

साम्राज्यवाद और पूँजीवाद का एक-एक दिन हमारे लिए भारी है। यह घुटन, यह सड़ाँध अब ज़िन्दा आदमी के बर्दाश्त के क़ाबिल नहीं। हमें उठ खड़ा होना होगा और अपने ज़िन्दा होने का सबूत देना होगा, वरना आने वाली पीढ़ियों को इतिहास क्या बतायेगा कि हम क्या कर रहे थे जब देश ज्वालामुखी के दहाने पर बैठा हुआ था, तबाही के नर्ककुण्ड में झुलस रहा था?

यही कारण है कि हम विश्व पूँजीवादी तंत्र से नाभिनालबद्ध पूँजीवादी व्यवस्था को चकनाचूर कर पूरे समाज के आर्थिक आधार और ऊपरी ढाँचे का न्याय और समानता के आधार पर पुनर्गठन करने के लिए क्रान्तिकारी लोक स्वराज्य का नारा बुलंद करते हैं। इस नारे का मतलब है – उत्पादन, राजकाज और समाज के पूरे ढाँचे पर उत्पादन करने वाले सामाजिक वर्ग काबिज़ हों, फैसले की पूरी ताक़त उन्हीं के हाथों में हो। इस नारे का सारतत्व है– 'सारी सत्ता मेहनतकश को!'

...परिवर्तनकामी छात्रों-युवाओं को नये सिरे से अपने क्रान्तिकारी संगठन और जुझारू संघर्ष संगठित करने होंगे और उन्हें मेहनतकशों के संघर्षों से जोड़ना होगा। उन्हें शहीदेआज़म भगतसिंह के सन्देश को याद करते हुए क्रान्ति का सन्देश कल-कारखानों और खेतों-खलिहानों तक लेकर जाना होगा। क्रान्तिकारी बुद्धिजीवियों को एक नये सर्वहारा पुनर्जागरण और प्रबोधन के सांस्कृतिक कार्यभारों को पूरा करने में सन्नद्ध हो जाना होगा। स्त्रियों की आधी आबादी की जागृति और लामबन्दी के बिना कोई भी सामाजिक परिवर्तन सम्भव नहीं। मेहनतकशों, छात्रों-युवाओं, बुद्धिजीवियों सभी मोर्चों पर स्त्रियों की भागीदारी बढ़ाना सफलता की बुनियादी शर्त्त है। साथ ही स्त्री आन्दोलन को कुलीन मध्यवर्गीय दायरे, एन.जी.ओ. पन्थी सुधारवादी गलाज़त और निष्क्रिय विमर्शवादी अस्मितावादी वैचारिक विभ्रम के दलदल से बाहर निकालकर जुझारू संघर्षमुखी और व्यवस्था-परिवर्तनवादी दिशा देनी होगी।

**बिगुल मज़दूर दस्ता, नौजवान भारत सभा, दिशा छात्र संगठन,**
**स्त्री मुक्ति लीग और स्त्री मज़दूर संगठन**

**द्वारा चलाये जा रहे**

## क्रान्तिकारी लोक स्वराज्य अभियान की ओर से जारी

सम्पर्क : नौजवान भारत सभा, बी-100, मुकुन्द विहार, करावल नगर, दिल्ली-94, फ़ोन : 9999750940
ईमेल : disha.du@gmail.com